विज्ञान भैरव
तन्त्र
(भैरव-भैरवी सम्वाद)

- ❑ यह ग्रन्थ केवल किसी एक व्यक्ति के कथन पर आधारित नहीं है बल्कि एक ऐसा महासमुद्र है जो संसार की सभी नदियों और कूपों को जल प्रदान कर सकता है।
- ❑ यह किसी एक ग्रन्थ, मत या व्यक्ति को प्रमाण नहीं मानता बल्कि सत्य पर आधारित है, जहाँ भी सत्य प्रकट हुआ उसे स्वीकार करता है।
- ❑ यह पारस ग्रन्थ भारतीय अध्यात्म विद्या का एक ऐसा खजाना है कि इसमें से जितना भी निकालो तो भी कोई कमी नहीं आती।
- ❑ उस परमतत्त्व को समझने के लिए यह एक अनुपाय (स्वयं बोध) की प्रक्रिया है जिसमें किसी क्रिया की आवश्यकता नहीं है। केवल चित्त की एकाग्रता ही पर्याप्त है। इसी ज्ञान को इस ग्रन्थ में भैरव-भैरवी सम्वाद के रूप में दिखलाया गया है।
- ❑ उस चैतन्यतत्त्व को जानने की एक ही विधि है—इस चंचल मन को स्थिर करना। मन के स्थिर होते ही साधक को अपने आत्मस्वरूप का अनुभव हो जाता है।
- ❑ सहज समाधि या अनुपाय प्रक्रिया का संक्षिप्त अर्थ यह है कि मन की स्वाभाविक प्रवृत्तियों पर बिना जोर जबरदस्ती के सहजरूप में नियन्त्रण।

भारत में ऐसे कई दार्शनिक व विद्वान हुए है जिन्होंने अपनी मेधा, अन्तरदृष्टि और स्वयं प्रसूत ज्ञान द्वारा आत्मज्ञान (स्वयं बोध) की ओर ले जाने वाले ग्रन्थों को समझाने का प्रयास किया है। अपने विचारों और उदाहरणों से उन्होंने जो जीवनसूत्र दिये हैं वह निश्चित ही मोक्ष के मार्ग को प्रशस्त करने वाले हो सकते हैं।

इसी क्रम में भारतीय वाङ्मय के अनेक ग्रन्थों की सरल व्याख्या करके सहजभाव से समाज सेवा का कार्य **श्री नन्दलाल दशोरा** ने भी किया जिससे वह अध्यात्म जगत् के मीमांसा स्तम्भ बन चुके हैं। इनकी वेदान्त की व्याख्या हृदयंगम होती प्रतीत होती है। इनकी किसी भी रचना से आप पढ़ना आरम्भ करें वह मनन चिन्तन की उस धारा से जोड़ देने की अद्भुत क्षमता रखते हैं कि आप स्वयं ही उच्च जीवनशैली की ओर चलने लगेंगे। उन विचारों में झाँकती जीवन की सुन्दरता ही आपको मानसिक शान्ति व आत्मिक आनन्द प्रदान करती रहेगी।

आप नन्दलाल दशोरा के अन्य ग्रन्थ भी पढ़ें और अन्य लोगों को पढ़ने की प्रेरणा देंगे तो यह भी अध्यात्म जगत् की अतुलनीय सेवा होगी।

—प्रकाशक

[आत्मज्ञान के इस ग्रन्थ को लगभग पाँच हजार वर्ष
पुराना माना गया है।]

रणधीर प्रकाशन की उत्कृष्ट प्रस्तुति

शैवागम का दुर्लभ ग्रन्थ

विज्ञान भैरव तन्त्र

(भैरव-भैरवी सम्वाद)

रुद्रयामल तन्त्र का गूढ़ रहस्य

व्याख्याकार :
श्री नन्दलाल दशोरा

रणधीर प्रकाशन, हरिद्वार

अनुक्रम

भूमिका

भारत की अध्यात्म परम्परा

भारत की अध्यात्म परम्परा विश्व की सर्वाधिक प्राचीन परम्परा है। सृष्टि रचना में इसके मूल तत्त्व की खोज करना तथा सृष्टि रचना की प्रक्रिया को जानना ही इसका मुख्य विषय रहा है। आज का विज्ञान दृश्य की खोज में ही व्यस्त है किन्तु अदृश्य की खोज करना सबसे कठिन कार्य है जिसकी खोज करके भारत ने इस सम्पूर्ण विश्व में अपना महत्त्वपूर्ण स्थान अर्जित किया है। यह सारा ज्ञान कोरी कल्पना पर आधारित नहीं है बल्कि विज्ञानसम्मत है जिस पर प्रयोग व परीक्षण किया जा सकता है। भारत ने इस विषय पर जितना गहन, चिन्तन, मनन एवं परीक्षण किया है उतना किसी अन्य देश में नहीं हुआ। आज का बुद्धिजीवी वर्ग किसी भी सत्ता को तभी स्वीकार करता है जो तर्क, प्रयोग व प्रमाणों पर आधारित है। इस दृष्टि से भारत का अध्यात्म भी इस कसौटी पर खरा उतरता है जिसे आज तक चुनौती नहीं दी जा सकी है। भारत ऐसे किसी सत्य को स्वीकार नहीं करता जिसे तर्क व प्रमाणों से सिद्ध नहीं किया जा सके। भारत का यह अध्यात्म किसी एक व्यक्ति की कल्पना व उसके कथन पर ही आधारित नहीं है बल्कि हजारों वर्षों तक विभिन्न ऋषियों द्वारा किए गए तर्क, प्रमाण, दृष्टान्त, वितर्क, आलोचना, प्रत्यालोचना के आधार पर ली गई निष्पत्ति है। अतः इसे असत्य सिद्ध करना आज हजारों वर्षों में भी सम्भव नहीं हो पाया है। इसी आधार पर भारत को विश्वगुरु के पद पर प्रतिष्ठित किया गया जो अकारण नहीं है बल्कि युक्तिसंगत है।

ईश्वर की अवधारणा

भारत की ही भाँति दुनियाँ के कई धर्मों ने सृष्टि रचना के मूल तत्त्व को जानने का प्रयास किया कि यह सृष्टि है तो इसका कोई न कोई सृष्टा तो होना ही चाहिए। अधिकांश धर्मों ने इसके सृष्टारूप में ईश्वर की ही सत्ता को स्वीकर किया कि वही ईश्वर एक परमशक्ति है जो इस जड़ चेतनमय सृष्टि की रचना कर सकता है। वही इसका एकमात्र कारणतत्त्व है किन्तु इसके स्वरूप का ऐसा चित्रण किया है कि जैसे वह कोई व्यक्ति स्वरूप हो जो किसी सम्राट् की भांति स्वर्ग में बैठा हो तथा सभी कुछ उसी की आज्ञा से हो रहा है। उसे सृष्टि से भिन्न माना। कई विज्ञानवादियों तथा बुद्धिवादी वर्ग ने ऐसे ईश्वर के होने से ही इन्कार कर दिया कि ऐसा कोई ईश्वर हो ही नहीं सकता। यदि है तो उसका रूप, रंग, आकार आदि क्या है? उसका सृष्टि रचना का उद्‌देश्य क्या है? आदि कई तर्क देकर उसकी सत्ता से ही इनकार कर दिया जिससे एक नास्तिक वर्ग तैयार हो गया। इनका कहना है कि यह सारी कल्पना अवैज्ञानिक है जो व्यक्ति की मानसिक कल्पनामात्र

है। इसे विज्ञानसम्मत नहीं माना जा सकता न ऐसे ईश्वर को प्रयोग व परीक्षण द्वारा ही सिद्ध किया जा सकता है। यह विवेक व तर्क से भी परे है। किसी जमाने में ऐसे ईश्वर की सत्ता को स्वीकार कर लिया गया हो किन्तु आज का बुद्धिजीवी वर्ग ऐसे ईश्वर को स्वीकार करने में अपने को असमर्थ पाता है।

आज दुनिया में कई ऐसी संस्थाएँ हैं जो इस अध्यात्म के विषय में काफी कार्य कर रही हैं व शोधकार्य भी किए जा रहे हैं किन्तु वे अभी पूर्णता को प्राप्त नहीं हो सकी हैं तथा कुछ तो भारतीय अध्यात्म से ही प्रभावित होकर कार्य कर रही हैं। इसमें थियोसोफी ने कुछ महत्त्वपूर्ण कार्य किए हैं जिसमें इस भारतीय अध्यात्म को ही वैज्ञानिक स्वरूप देने का प्रयास मात्र किया है। कुछ संस्थाएँ ऐसी भी हैं जो इस अध्यात्म विद्या को भौतिक दृष्टि से समझने का प्रयास कर रही हैं जो इस पर भौतिक विज्ञान की भाँति प्रयोग व परीक्षण करके समझने का प्रयास कर रही हैं किन्तु इस चेतनतत्त्व का विज्ञान इस जड़तत्त्व के विज्ञान से सर्वथा भिन्न प्रकार का है जिसे इस भौतिक तराजू पर तोला व परखा नहीं जा सकता। इसे जानने की विधि भिन्न है। यदि कोई इसे जानने का इच्छुक हो तो उसे आध्यात्मिक विधि का ही प्रयोग करना पड़ेगा। भारत ने उस चेतनतत्त्व को जानने की अनेक विधियों की खोज की है जिसका प्रयोग करके ही इसे जाना जा सकता है। सभी कुछ भौतिक ही है व चेतन नाम की कोई सत्ता ही नहीं है यह मान लेना ही एक मिथ्या धारणा है जिसका त्याग करना पड़ेगा तभी इसके रहस्यों को जाना जा सकता है।

भौतिक व अध्यात्म विज्ञान

इस सृष्टि रचना में भौतिक एवं अध्यात्म नाम वाली दो शक्तियाँ कार्य कर रही हैं जिनको जड़ व चेतन दो नाम दिए जा सकते हैं। इन दोनों की खोज दो भिन्न क्षेत्रों में हुई है जिनको भौतिक एवं अध्यात्म विज्ञान कहा जा सकता है। इस चेतनाशक्ति को जानने के विज्ञान को ही अध्यात्म विज्ञान कहा गया है। भौतिक विज्ञान के क्षेत्र में कार्य करना आसान है क्योंकि उसकी खोज दृश्य पदार्थों पर ही आधारित है किन्तु यह चेतन तत्त्व अदृश्य है जिस पर खोज करना इतना आसान नहीं है। यह सामान्य बुद्धि की पकड़ से बाहर का विषय है जो अतिसूक्ष्म होने से सूक्ष्मबुद्धि का ही विषय है। जो व्यक्ति केवल सांसरिक विषय भोगों में ही लिप्त है वे सौ जन्मों में भी इस विद्या के रहस्यों को जानना तो दूर रहा इसे समझ भी नहीं सकते इसलिए यह विषय सर्वमान्य न हो सका तथा कुछ ही उच्चचेतना सम्पन्न मनीषियों का विषय बनकर रह गया। सामान्य व्यक्ति को इस ज्ञान को देने का शास्त्रों में निषेध भी कर दिया गया कि कोई भी गुरु सद्पात्र को ही इसका उपदेश करे, कुपात्र को इसका उपदेश कदापि न करे चाहे प्राणों पर संकट ही क्यों न उपस्थित हो। अतः यह ज्ञान सर्वमान्य न हो सका। यदि कोई वैज्ञानिक इस चेतन तत्त्व को जानने की अभिलाषा रखता हो तो वह इसके लिए बताई गई विधियों पर प्रयोग करके जान सकता है। इसमें कोई बाधा नहीं है। बिना प्रयोग व परीक्षण किए किसी सत्य को इन्कार कर देना कोई बुद्धिमानी नहीं कही जा सकती। यह अध्यात्म विद्या केवल आस्था, श्रद्धा व विश्वास का ही विषय नहीं है बल्कि पूर्ण विज्ञान सम्मत है जो साधारण विज्ञान से भी अति उच्चकोटि का विज्ञान है जिससे जानने के लिए उतने ही अधिक श्रम की आवश्यकता है।

यह अध्यात्म विद्या इस चेतन शक्ति को जानने का विज्ञान है। यह चेतन शक्ति एक अदृश्य शक्ति है जो सृष्टि रचना का एकमात्र मूल कारण तत्त्व है सृष्टि की कोई भी रचना हो वह चेतन के बिना सम्भव ही नहीं है। कोई भी जड़तत्त्व अपने-आप कोई व्यवस्थित रचना नहीं कर सकता। चेतन के गुणधर्म जड़ से सर्वथा भिन्न हैं। सोचना, विचारना, चिन्तन व मनन करना सद् व असद् का विवेक करना, निर्णय करना, कल्पना करना, रचनात्मक कार्य करना नई योजना बनाना, अच्छे बुरे का ज्ञान करना, हित अहित की बात सोचना, उचित अनुचित का ज्ञान, सही समय पर सही निर्णय लेना, इच्छाशक्ति, संकल्पशक्ति, आदि सभी इस चेतन शक्ति के गुण हैं जो जड़ तत्त्व में नहीं पाये जाते। वह जड़ तत्त्व इस चेतन शक्ति का उपकरणमात्र बन सकता है। वह स्वतन्त्र रूप से अपने आप कोई रचना नहीं कर सकता। अतः चेतन की सत्ता को ही मुख्य रूप से स्वीकार करना पड़ेगा। केवल ईंट, चूने, पत्थर, सीमेन्ट से ही भवन की रचना नहीं हो सकती जबकि उसकी रचना किसी चेतन प्राणी द्वारा न हो। रोबोट की रचना भी किसी चेतन प्राणी ने ही की है। रोबोट चेतन की रचना नहीं कर सकता। अतः इस चेतन के विज्ञान को जानना ही सर्वाधिक महत्त्व का है। यह जड़शक्ति एक अन्ध शक्ति है जो विनाश तो कर सकती है किन्तु रचना का कार्य, विवेकपूर्ण कार्य इससे सम्भव नहीं है जो केवल चेतन से ही सम्भव है किन्तु यह चेतनशक्ति केवल ज्ञानस्वरूप है जो स्वयं क्रिया नहीं कर सकती। बिना क्रिया के रचना भी नहीं हो सकती अतः यह चेतन शक्ति इसी की दूसरी शक्ति क्रियाशक्ति की सहायता से ही सृष्टि रचना का कार्य सम्पन्न करती है। यह क्रियाशक्ति इसी की सहयोगी शक्ति है जिसे आगे स्पष्ट किया जा रहा है।

पुराण साहित्य

इस चेतना शक्ति का विज्ञान इतना गूढ़ व रहस्यमय है कि स्थूल बुद्धि के यह पकड़ में नहीं आता। विज्ञान के प्रयोगों की भाँति इस पर किसी प्रयोगशाला में प्रयोग व परीक्षण भी नहीं किया जा सकता। इसको सूक्ष्मबुद्धि के तल पर ही समझा जा सकता है अतः यह ज्ञान सामान्यजनों की पहुँच से बाहर ही रहा। सामान्यजन को इस निराकार स्वरूप को समझने में बडी कठिनाई होती है तथा अशिक्षित व्यक्ति भाषा की कठिनाई के कारण इस निराकार को नहीं समझ सकता। इसको ध्यान में रखकर वेदव्यास जी ने पुराणों की रचना कर इसके गूढ़ रहस्यों व सिद्धान्तों को समझाने के लिए इनको साकार रूप देकर इसे कथा, कहानी, दृष्टान्तों आदि के रूप में प्रकट किया जिससे यह ज्ञान जनसामान्य तक पहुँच सका। यदि यह पुराण साहित्य न होता तो वेदों व उपनिषदों के ज्ञान को कौन समझ सकता था व आज भी कितने व्यक्ति इसे समझ पा रहे हैं। पुराणों ने ही इस ज्ञान को बोधगम्य बनाया है। यदि भारत में इस पुराण साहित्य को निकाल दिया जाए तो भारत की यह अध्यात्म विद्या किस आधार पर टिकी रह सकती है यह सोचने का विषय है। यह साकार की उपासना, व्रत, त्यौहार, मूर्ति पूजा, यज्ञ, याग आदि कर्मकाण्ड, तीर्थाटन दान, पुण्य, हवन, कीर्तन, मठ, सत्संग, कथा, प्रवचन आदि ये ही सब भारतीय अध्यात्म को जीवित रखने के उपकरण हैं जिनके आधार पर ही भारत की यह अध्यात्म परम्परा जीवित है जिनका आधार एकमात्र यह पुराण साहित्य है। निराकार व निर्गुण के आधार पर कौन सा समाज आध्यात्मिक बना है इस पर विचार करने की आवश्यकता है। यह

पुराण साहित्य वेदों और उपनिषदों के गूढ़ सिद्धान्तों की व्याख्या है जिनको कथा, कहानियों, दृष्टान्तों के माध्यम से समझाया गया है जो इसकी सशक्त विधि है। भारतीय सभ्यता व संस्कृति को जीवित रखने का यही एक माध्यम है जिसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती।

भारत के अध्यात्म ग्रन्थ

भारत अध्यात्म विद्या का एक ऐसा अमूल्य खजाना है जो अटूट है। इसमें से जितना भी निकालो तो भी इसमें कोई कमी नहीं होती। यह किसी एक व्यक्ति के कथन पर ही आधारित नहीं है, न किसी एक ग्रन्थ या पुस्तक पर आधारित है बल्कि एक महासमुद्र है जो संसार की सभी नदियों व कुओं को जल प्रदान कर सकता है। ईसाई समाज केवल बाइबल को ही प्रमाण मानता है, मुसलमान केवल कुरान को ही प्रमाण मानते हैं, बौद्ध केवल धम्मपद को ही प्रमाण मानते हैं जैनी केवल महावीर के कथन को ही प्रमाण मानते हैं किन्तु भारत का यह हिन्दू समाज किसी एक ग्रन्थ, मत या व्यक्ति को ही प्रमाण नहीं मानता बल्कि सत्य पर आधारित है। जहाँ भी सत्य प्रकट हुआ है उसे स्वीकार करता है यही इसकी सहिष्णुता है। यह कट्टरवादी कभी नहीं रहा। यह निराकार, साकार, निर्गुण, सगुण, द्वैत, अद्वैत, सभी को स्वीकार करता है। यही विश्वगुरु का स्थान लेने का एकमात्र अधिकारी है।

इस अध्यात्मज्ञान के एक नहीं सैकड़ों ग्रन्थ हैं जिनका मुख्य आधार वेद व उपनिषद ही है किन्तु इनके अतिरिक्त षट् दर्शन की मुख्य भूमिका है जिनमें न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, मीमांसा तथा वेदान्त मुख्य हैं। इनमें भी तन्त्र शास्त्र का अपना विशिष्ट स्थान है।

सांख्य दर्शन—अध्यात्म विद्या इस सृष्टि के मूल तत्त्व की खोज का विज्ञान है। इस दृश्य जगत् में दो प्रकार की रचनाएँ स्पष्ट रूप से दिखाई देती हैं जिनमें एक यह जड़ सृष्टि है जिसमें पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु एवं आकाश की गणना होती है तथा दूसरी यह चेतन सृष्टि है जिसमें वनस्पति, जीव जन्तु, पशु पक्षी व मनुष्य की गणना होती है। प्राचीन ऋषियों ने इनके मूल तत्त्व को खोजने का प्रयत्न किया कि इन दोनों का मूल तत्त्व कोई एक ही है अथवा दोनों भिन्न-भिन्न हैं। यदि एक ही है तो वह जड़ है अथवा चेतन स्वरूप है। यदि एक ही है तो जड़ से चेतन प्रकट होता है अथवा चेतन से जड़ प्रकट होता है अथवा इन दोनों का मूल कारण कोई तीसरा ही तत्त्व है जिससे ये दोनों प्रकट होते हैं? इस आधार पर जो भी मत प्रकट हुए वे ही अध्यात्म का विषय बने। साथ ही इसे भी जानने का प्रयास किया कि इस मूल तत्त्व से सृष्टि रचना की प्रक्रिया क्या है? तथा इस मूल तत्त्व को किस प्रकार ज्ञात किया जाए? इन्हीं को लेकर अध्यात्म विद्या का विकास हुआ। इन प्रश्नों के समाधान के लिए कई धर्मों ने ईश्वर को ही इसका मूल कारण माना जिसका वर्णन पूर्व में किया गया है। भारत में इसके लिए तीन मत सर्वाधिक प्रचलित रहे जिनमें एक सांख्य दर्शन है, दूसरा वेदान्त दर्शन है तथा तीसरा तन्त्र शास्त्र है।

सांख्य दर्शन ने सृष्टि रचना में जड़ व चेतन नाम वाली दो भिन्न-भिन्न सत्ताओं के अस्तित्व को स्वीकार किया जिसे प्रकृति व पुरुष नाम दिया। प्रकृति जड़ है जिससे जड़सृष्टि की रचना होती है तथा पुरुषतत्त्व चेतनस्वरूप है। दोनों के संयोग से ही जीवसृष्टि की रचना होती है। यह सांख्य दर्शन ज्ञान प्रधान है, यह द्वैतवादी दर्शन है। यह

सृष्टि प्रकृति की रचना है तथा पुरुष निर्लिप्त रहता है। पुरुष व प्रकृति के संयोग से चौबीस तत्त्व उत्पन्न होते हैं जो सृष्टि की रचना करते हैं। यह दर्शन सभी आत्माओं को भिन्न-भिन्न मानता है। यह इन सभी तत्त्वों के ज्ञान को ही दुःख निवृत्ति का उपाय मानता है प्रकृति से इस पुरुष को अलग मानने से ही मुक्ति होती है। इसका मानना है कि शरीर का नाश हो जाता है किन्तु आत्मा का नाश नहीं होता। परमात्मा को यह प्रकृति और पुरुष से भिन्न मानता है जो साक्षी है, नित्यमुक्त है। यह ज्ञान को ही मोक्ष का साधन मानता है। यह जगत् को सत्य मानता है। वैदिक कर्मकाण्ड से मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती। यह दर्शन प्रकृति को नित्य मानता है। यह सांख्य दर्शन सबसे प्राचीन दर्शन है जिसका सर्वप्रथम उपदेश महर्षि कपिल ने अपनी माता देवहुति को दिया था।

वेदान्त दर्शन—वेदान्त दर्शन भारत का सर्वमान्य दर्शन है जिसका मुख्य आधार वेद व उपनिषद् है। यह अद्वैतवादी दर्शन है जो एक ही ब्रह्म को सृष्टि का मूल कारण मानता है। सृष्टि को यह माया का रूप मानता है। जो ब्रह्म के साथ अभिन्न रूप से रहती है। यह ब्रह्म को ही सृष्टि का निमित्त व उपादान कारण मानता है। यह ब्रह्म सत् चित् व आनन्द स्वरूप है। यह सृष्टि उसकी कृति नहीं बल्कि अभिव्यक्ति है। वही अनेक रूपों में अभिव्यक्त हुआ है। जिस प्रकार बीज में सम्पूर्ण वृक्ष की सत्ता विद्यमान रहती है। उसी प्रकार ब्रह्म में यह सम्पूर्ण सृष्टि अप्रकट रूप से विद्यमान रहती है। वह ब्रह्म ही आनन्द स्वरूप है। जीवात्मा और परमात्मा में भेद है। जीवात्मा के सभी कर्म प्रकृति के गुणों द्वारा किए जाते हैं। जीवात्मा कर्म करने में स्वतन्त्र है किन्तु फल भोगने में परतन्त्र है। जीव ईश्वर का ही अंश है। परब्रह्म की अनुभूति चित्त में ही होती है ब्रह्म विद्या ही मुक्ति की हेतु है। ब्रह्म की प्राप्ति कर्मों का फल नहीं, वह ज्ञान का फल है। ब्रह्मज्ञान मानने से नहीं होता, जानने से होता है। आदि शंकराचार्य ने भारत में कई बार यात्राएँ कर इसी अद्वैत दर्शन का प्रचार किया जो भारत का आदर्श धर्म बना। यही आज सर्वमान्य है।

भारत के इस अद्वैत दर्शन को सूफी, आनन्द मार्गी, थियोसोफी, शैव, शाक्त आदि सभी मतावलम्बियों ने स्वीकार किया है। वेदान्त दर्शन आज सर्वमान्य होते हुए भी कई अज्ञानीजन आज भी द्वैत को ही स्वीकार करते हैं। वे जड़ व चेतन को भिन्न मानते हैं, प्रकृति व पुरुष को भिन्न मानते हैं, सृष्टि व सृष्टा को भिन्न मानते हैं, जीव व ब्रह्म को भिन्न मानते हैं। वे कहते हैं कि जीव कभी ईश्वर हो नहीं सकता। यह सब गहन चिन्तन का विषय है। सामान्य बुद्धि से इसे नहीं समझा जा सकता।

तन्त्र शास्त्र

भारत की आध्यात्मिक परम्परा में तन्त्र शास्त्र का विशिष्ट एवं सर्वोच्च स्थान है। इसे वेदों से भी प्राचीन माना गया है। इसमें कहा गया है कि

"वेद से श्रेष्ठ शैव शास्त्र है, शैव से श्रेष्ठ वाम शास्त्र है, वाम से श्रेष्ठ दक्षिण शास्त्र है, दक्षिण से श्रेष्ठ कौल शास्त्र है और उससे भी श्रेष्ठ त्रिक शास्त्र है। इनसे भी श्रेष्ठ अन्य शास्त्र हैं।"

इस प्रकार इसकी प्राचीनता ज्ञात होती है। इस शास्त्र में सृष्टि में अद्वैत की मान्यता को ही स्वीकार किया गया है इसके परम तत्त्व के ज्ञान के लिए पूरी साधना विधि तैयार की गई है जिसकी साधना से कोई भी साधक इसके सत्य स्वरूप को जान सकता है। इस

शास्त्र के कई ग्रन्थ उपलब्ध हैं तथा कई लुप्तप्राय भी हो चुके हैं। इस विद्या के प्रथम उपदेष्टा स्वयं भगवान शिव ही हैं जिसको यामल ग्रन्थ कहा जाता है जिनमें रुद्रयामल को सर्वाधिक प्रामाणिक ग्रन्थ माना जाता है। अन्य यामल ग्रन्थों में ब्रह्मयामल, विष्णुयामल, रुद्रयामल, भैरवयामल आदि हैं। इनकी परम्परा यद्यपि अनादि है किन्तु इन ग्रन्थों में कुछ की रचना आठवीं शताब्दी की मानी गई है।

यद्यपि यह तन्त्र शास्त्र प्रामाणिक है किन्तु वेदान्त के अधिक प्रचार प्रसार के कारण इसके प्रसार में कमी आई है तथा इसकी क्लिष्टता व अन्य भी कई कारण रहे हैं जिससे यह सर्वमान्य न हो सका किन्तु इसकी प्रमाणिकता में कोई सन्देह नहीं है। यह भारत की एक अमूल्य धरोहर है जिसकी सुरक्षा की जानी चाहिए।

तन्त्र के लिए करके जानना है, स्वयं अनुभव करना है। शब्दों से जानना कोई जानना नहीं है। शब्दों द्वारा कहा गया गलत भी हो सकता है। कुछ ऐसे रहस्य हैं जिनको शब्दों में व्यक्त नहीं किया जा सकता। काम, क्रोध, लोभ, मोह, सुख, दुःख, आनन्द आदि को शब्दों में व्यक्त नहीं किया जा सकता। इसकी अनुभूति स्वयं को ही होती है। ये वृत्तियाँ हैं जो सभी में समान हैं। ये हिन्दू, मुस्लिम में भेद नहीं करती। वस्त्र भिन्न-भिन्न हो सकते हैं इनके रूप भिन्न-भिन्न हो सकते हैं किन्तु मूलरूप सबमें समान हैं। इन पर नियन्त्रण की विधियाँ भी समान ही हैं। इन पर नियन्त्रण करने से ही मानव का रूपान्तरण हो सकता है। इनको जानना मात्र है। उपदेशों से परिवर्तन नहीं आएगा। तन्त्र स्वयं जानने की बात कहता है।

विज्ञान भैरव क्या है?

अध्यात्म विद्या में जानने योग्य तीन मुख्य विषय हैं। इस सम्पूर्ण दृश्य जगत् का मूल तत्त्व क्या है? इस तत्त्व से सृष्टि रचना की प्रक्रिया क्या है? तथा इस मूल तत्त्व को कैसे जाना जाये? इन्हीं तीन प्रश्नों को लेकर अध्यात्म विद्या का विकास हुआ किन्तु भिन्न-भिन्न समय में भिन्न-भिन्न मनीषियों द्वारा इन पर विचार किये जाने के कारण इनमें भिन्न-भिन्न मत सामने आये जिससे कोई भी एक मत सर्वमान्य न हो सका तथा पाठकों में दुविधा बनी रही। ऐसी ही दुविधा भैरवी के मन में पैदा हुई जिसने तन्त्र के कई ग्रन्थों का अध्ययन किया जिनमें भिन्न-भिन्न बातें कही गई थीं जिससे वह सत्यासत्य का निर्णय नहीं कर पा रही थी कि इनमें कौन सा सही है? इसी के समाधान के लिए वह भगवान भैरव (शिव) के सामने आठ विकल्प प्रस्तुत करती है कि इनमें आपका वास्तविक स्वरूप क्या है? इसे बताने की कृपा करें। इन्हीं आठ प्रश्नों के उत्तर में भगवान शिव ने सृष्टि के सम्पूर्ण रहस्य को प्रकट कर दिया। वह सब जान लेने के बाद उसने उस परमतत्त्व को जानने की विधि के विषय में प्रश्न किया कि उसे कैसे जाना जाये? तो उसके उत्तर में भगवान् शिव ने ११२ विधियों का वर्णन किया जिसकी साधना करके कोई भी साधक उस परमतत्त्व को जान सकता है। यही ग्रन्थ विज्ञान भैरव नाम से प्रसिद्ध है। यह विज्ञान भैरव शैवागम का दुर्लभ ग्रन्थ है। शैव मतावलम्बियों के लिए यही एकमात्र प्रामाणिक ग्रन्थ है। यह अनुपाय स्वयं बोध की प्रक्रिया है जिसमें किसी क्रिया की आवश्यकता नहीं है केवल चित्त की एकाग्रता ही पर्याप्त है। इस ज्ञान को भैरव भैरवी सम्वाद के रूप में दिया गया है।

ग्रन्थ सार

इस सम्पूर्ण दृश्य जगत् का मूल कारणतत्त्व एक ही है जिसे जाना तो नहीं जा सकता किन्तु उसकी अनुभूति की जा सकती है। वही सत् स्वरूप है असत् नहीं है। गीता में भी कहा गया है कि सत् का अभाव नहीं है तथा असत् की सत्ता नहीं है। वह शून्य स्वरूप भी नहीं है किन्तु शून्य जैसा भासता है। वह अदृश्य है फिर भी सृष्टि रचना का कारण है। वह नहीं है ऐसा भी नहीं कहा जा सकता। यही भैरव स्वरूप है जो विश्व का भरण, रवण वमन करने वाला है अर्थात् यही भरण-पोषण करता है सृष्टि व संहार करता है। यही संसारीजीवों को अभयदान देता है। निग्रह व अनुग्रह भी इसी के कार्य हैं। यह काल का भी काल है इसलिए इसको काल भैरव भी कहते हैं। इसका स्वरूप महाभयानक है और सौम्य भी है।

यह विज्ञान स्वरूप है, बोधगम्य है, चिदात्मक है। यह भाव स्वरूप है। इसका ज्ञान विवेकहीन जनों को भी होता है। विज्ञान का अर्थ चेतना है। सभी इस चेतना के ही रूप हैं। चेतना से भिन्न किसी की सत्ता नहीं है। सब कुछ चिन्मात्र ही है। यह चेतना सभी जीवों में व्याप्त है। शिव में स्थित चैतन्यरूपी प्रकाश ही सारा विश्व है। चैतन्य के कारण ही यह जगत् भासित होता है। जिस प्रकार घनीभूत प्रकाश ही सूर्य है, उसी प्रकार यह घनीभूत चित्तशक्ति ही जगत् का रूप धारण करती है। जिस प्रकार घनीभूत हिम ही पिघलकर जल बन जाता है उसी प्रकार यह घनीभूत चित्शक्ति ही जगत् का रूप धारण कर लेती है। जिस प्रकार तरल पदार्थ घनद्रव्य से भिन्न नहीं है उसी प्रकार यह जगत् भी चित्शक्ति (विज्ञान भैरव) से भिन्न नहीं है। सभी ज्ञेय पदार्थों में विज्ञान भैरव का स्वरूप अनुवृत्त रहता है। यह विज्ञान भैरव, शिव व शक्ति के सामरस्य की प्रतीक है। यही अद्वैत स्वरूप है जो अनुभूति का विषय है जो हर व्यक्ति के लिए सम्भव नहीं है। जब तक इसकी अनुभूति न हो मनुष्य को द्वैत में ही रहना पड़ेगा, व्यवहार में द्वैत ही है किन्तु परमार्थ में अद्वैत ही है। **पुस्तकें पढ़कर इस अद्वैत को नहीं जाना जा सकता। अतः इस ग्रन्थ का नाम ही 'विज्ञान भैरव' रख दिया है। यह विज्ञान भैरव पाँच हजार वर्ष पुराना माना जाता है।**

सृष्टि का जो मूल तत्त्व है वह चेतन है जो ज्ञान स्वरूप है। वह अकेला चेतनतत्त्व सृष्टि की रचना नहीं कर सकता क्योंकि उसमें क्रिया का अभाव है। यह क्रिया उसी चैतन्य की शक्ति है जो क्रिया का कारण है बिना शक्ति के कोई भी क्रिया सम्भव नहीं है किन्तु यह शक्ति उस चैतन्य से भिन्न नहीं है बल्कि उसी का एक रूप है। इसे भिन्न मान लेना अज्ञानमात्र है जहाँ चेतना है वहाँ शक्ति अपरिहार्य रूप से उसमें विद्यमान रहती है तथा जहाँ शक्ति है वहाँ चेतना विद्यमान रहती है दोनों अभिन्न हैं। किन्तु जब तक इस शक्ति का जागरण नहीं होता वह इस चेतनतत्त्व में सुप्त पड़ी रहती है। जिस प्रकार एक बीज में सम्पूर्ण वृक्ष की सत्ता विद्यमान रहती है किन्तु खाद पानी देने पर ही वह वृक्ष का रूप लेती है जो उसका सहकारी कारण है उस प्रकार इस शक्ति का जागरण उस चेतन की इच्छानुसार ही होता है। चेतन की इच्छा से ही इस शक्ति का जागरण होकर वह सृष्टि रचना की क्रिया करती है। अतः सृष्टि रचना में ज्ञानक्रिया व इच्छा मुख्य कारण है। यह शक्ति जड़वत् है इसलिए क्रिया का कारण भी यह चेतनतत्त्व ही है। मनुष्य के द्वारा जो भी

कार्य किए जाते हैं वे सभी इस शक्ति से ही सम्पन्न होते हैं किन्तु चेतन आत्मा के अभाव में यह शक्ति निष्क्रिय हो जाती है। अतः शक्ति को चेतन से अलग नहीं किया जा सकता। वेदान्त भी संकल्प से ही सृष्टि रचना मानता है।

जिस प्रकार शरीर में आत्मा ही एकमात्र चेतन है जो ज्ञान स्वरूप है तथा सभी क्रियाएँ शरीर के माध्यम से ही होती हैं जो शक्तिस्वरूप है। चेतना के अभाव में शरीर निष्क्रिय हो जाता है वह कोई क्रिया नहीं कर सकता। अतः क्रिया का कारण भी चेतना ही है। अतः ज्ञान व क्रिया को अलग नहीं किया जा सकता। बिना ज्ञानशक्ति के कोई भी क्रिया सम्भव नहीं है। ज्ञान व क्रिया का संयुक्त रूप ही शरीर है। एक ही शिव में दोनों तत्त्व विद्यमान रहने से शिव को अर्द्धनारीश्वर कहा जाता है। शरीर में भी दोनों शक्तियाँ एक साथ विद्यमान रहती हैं। अतः दोनों को भिन्न मानना अज्ञान ही है।

शैवागम के अनुसार यह सम्पूर्ण जगत् इस चैतन्य का ही विलास है। इसलिए यह असत्य या मिथ्या नहीं है। यह चेतन ही शिव है यही भैरव है तथा शिव व शक्ति का सामरस्य ही परम तत्त्व है। वही ब्रह्म है जिसमें दोनों साम्य रूप में रहती हैं। यह चित् शक्ति ही नाना रूपों में जगत् की रचना करती है और उसी में अनुस्यूत होकर रहती है। वेदान्त भी इस चेतन शक्ति को कण-कण में व्याप्त कहता है। अतः जड़ और चेतन भी वही है यही ग्राहक व ग्राह्य है। उससे भिन्न कुछ भी नहीं है।

योग शास्त्र

इस परमतत्त्व तथा सृष्टि रचना के विषय में भैरवी का तीसरा प्रश्न था कि इस परमतत्व को जाना कैसे जाये? यही हर व्यक्ति का प्रश्न है कि सृष्टि के इस परमतत्त्व को जाना कैसे जाये? इस तत्त्व को जानने की जिज्ञासा ने ही योग शास्त्र को जन्म दिया जिसकी कई विधियाँ खोजी गईं। भिन्न-भिन्न शास्त्रों में भिन्न-भिन्न विधियों का उल्लेख है जिनमें ज्ञान व क्रिया दो मुख्य मार्ग हैं क्रिया मार्ग में पतंजलि का योग दर्शन एक प्रामणिक गन्थ है जिसमें अष्टांग योग की साधना बताई गई है। दूसरा मार्ग हठयोग का है जिसमें षडंग मार्ग की बात कही गई है।

दूसरी विधि ज्ञान की है जिसमें क्रिया की कोई आवश्यकता नहीं है। वह आत्म चैतन्य तत्त्व आत्मरूप में सबमें विद्यमान है। इसे जान लेना मात्र है। यह ज्ञान की विधि है। जिसे सहज योग कहा जाता है। तन्त्र इसी को अनुपाय विधि कहता है। योग वाशिष्ठ योग का महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है जिसमें ज्ञान की सात भूमिकाएँ की बात कही गई है। यह मुख्यतया वेदान्त का ग्रन्थ है। सभी दर्शनों में इस आत्मज्ञान के लिए मन को ही मुख्य बाधा स्वीकार कर उसकी शुद्धि पर ही जोर दिया गया है तथा मन की वृत्तियों के निरोध को ही एकमात्र उपाय माना गया है।

तन्त्र शास्त्र के अनुसार यही चित् शक्ति मानव में भी है। इस शक्ति को जानना ही तन्त्र शास्त्र का उद्देश्य है। जब तक यह शक्ति जाग्रत नही होती तब तक मनुष्य संसारी ही है। इस शक्ति का ज्ञान होने पर मनुष्य शिव ही हो जाता है। इस शक्ति को जाग्रत करने के अनेक उपाय है जिनमें श्रेष्ठ उपाय गुरुकृपा है जिससे शक्ति का जागरण सरल बन जाता है तथा इसी से शिवावस्था प्राप्त हो जाती है जो मानव का चिदात्म स्वरूप है। इसी ज्ञान से अद्वैत अवस्था की प्राप्ति होती है। यही जीव की सिद्धावस्था व परमगति है।

इसकी गहन विधि गुरु द्वारा किसी योग्य पात्र को ही बताई जाती है जब शिष्य समर्पित हो तथा ग्राहकता की स्थिति में हो।

ब्रह्म की जो निष्कल अवस्था है वही जीव की निर्विकल्प अवस्था है जिसकी प्राप्ति के लिए विज्ञान भैरव में भगवान् शिव ने ११२ विधियों का वर्णन किया है जिसमें से किसी भी एक विधि द्वारा चित्त को एकाग्र करने वाला साधक जीवनपर्यन्त जीवन्मुक्त अवस्था में रहता है तथा मृत्यु के उपरान्त वह विदेह मुक्ति को प्राप्त हो जाता है क्योंकि परमेश्वर से उसका स्वरूप अभिन्न होने से वह ईश्वर ही हो जाता है। जो अज्ञानी जीव है जिनको आत्मानुभव नहीं हुआ है वे ही स्वर्ग नरक में जाते हैं अथवा ब्रह्मलोक में जाते हैं। निराकार ब्रह्म का उपासक उसी समय ब्रह्म में लीन हो जाता है। जैसे गरम तवे पर पड़ी पानी की बूँद विलीन हो जाती है यही निर्विकल्प परमपद है।

—नन्दलाल दशोरा

तन्त्र की शिक्षाएँ

तन्त्र शास्त्र अद्वैत ज्ञान का मुख्य शास्त्र है जो शिव की चैतन्य शक्ति का ही विलास स्वीकार करता है। वह सृष्टि व सृष्टा जीव व शिव की सत्ता को भिन्न नहीं मानता। जिसे आत्मस्वरूप का ज्ञान नहीं हुआ हो वही द्वैत में जीवनयापन करता है जो अज्ञानमात्र है। विज्ञान भैरव इसी तन्त्र शास्त्र का प्रमुख ग्रन्थ है जो भगवान् शिव द्वारा भैरवी को दिए गए उपदेशों का सार है। इसकी प्रमुख शिक्षाएँ इस प्रकार हैं—

१. ईश्वर के पाँच कार्य हैं—सृष्टि रचना, स्थिति और संहार करना तथा तिरोधान व अनुग्रह भी उसके कार्य माने गए हैं।

२. तिरोधान के कारण यह जीव अपने वास्तविक स्वरूप को भूल जाता है जिससे वह जन्म मृत्यु के फेर में पड़ जाता है।

३. किन्तु ईश्वर के अनुग्रह से ही वह जन्म मृत्यु के चक्कर से छूटकर मुक्त हो जाता है।

४. वेद से श्रेष्ठ शैव शास्त्र है। शैव से श्रेष्ठ वाम, वाम से श्रेष्ठ दक्षिण, दक्षिण से कौल, उससे श्रेष्ठ त्रिक शास्त्र है, त्रिक से भी श्रेष्ठ सिद्धा, मालिनी और उत्तर श्रेष्ठ है।

५. ईश्वरीय ज्ञान ईश्वर के अनुग्रह के बिना तथा बिना गुरु के भी नहीं होता।

६. भैरव के निराकार और साकार दो रूप बताए गए हैं। जो साकार स्वरूप है वह सब अस्थिर व विनाशी है सदा नहीं रहने वाले हैं किन्तु अज्ञानीजन उसी को सत्य व शाश्वत मानकर इसी की पूजा व आराधना करते रहते हैं। इसे सत्य मान लेना ही मिथ्या धारणा है।

७. सत्य ज्ञान की प्राप्ति पर वह इसी प्रकार इस मिथ्या ज्ञान को त्याग देता है जैसे साँप अपनी केंचुली उतारकर फेंक देता है।

८. उस निष्कल (निराकार) का वर्णन नहीं हो सकता। वह तो केवल बोधस्वरूप है जिसका ज्ञानमात्र होता है। वह स्वानुभव का ही विषय है।

९. उस परमतत्त्व का न कोई कारण है, न कार्य, वह सभी उपमाओं से परे है। वह एक ही अद्वितीय है, अद्वय है, उससे भिन्न कुछ भी नहीं है। सभी कुछ उसी के विभिन्न रूपमात्र हैं। वह दृश्य भी नहीं है तथा किसी प्रकार की कल्पना से परे है। उसकी परोक्ष अनुभूति ही होती है। वही एक मात्र चेतन स्वरूप है।

१०. शक्ति के तीन रूप हैं—परा, परापरा तथा अपरा। उसका परारूप शिव में विलीन रहता है तथा अपने परापरा तथा अपरा रूप से वह सृष्टि की रचना करती है। शक्ति शक्तिमान से भिन्न नहीं होती।

११. ईश्वर कृपा भी सब पर नहीं होती वह भी किसी योग्य पात्र पर ही होती है जिसके लिए आरम्भ में प्रयत्न करना ही पड़ेगा।

१२. वह चेतन तत्त्व स्वयं कोई क्रिया नहीं करता वह ज्ञान स्वरूप है। सभी क्रियाएँ उसकी शक्ति से ही होती हैं क्रिया उसका स्वभाव है। शक्ति का सारा कार्य चेतना के बिना सम्भव ही नहीं है। शक्ति इस चेतन का ही एक रूप मात्र है जो उससे अभिन्न है।

१३. शिव को अर्द्धनारीश्वर इसलिए कहा गया है कि वह चेतन व शक्ति का संयुक्त रूप है। मनुष्य भी अर्द्धनारीश्वर है।

१४. शिव को साधा नहीं जा सकता, शक्ति की सहायता से ही शिव की पहचान होती है।

१५. जहाँ चेतना है वहाँ शक्ति विद्यमान रहती ही है तथा जहाँ शक्ति है वहाँ चेतना है ही। दोनों अभिन्न हैं।

१६. जिस प्रकार सूर्य से उसका प्रकाश भिन्न नहीं है उसी प्रकार शिव से उसकी शक्ति भिन्न नहीं है।

१७. जिस प्रकार वृक्ष के बीज में पूरा वृक्ष समाया रहता है उसी प्रकार शिवरूपी चैतन्य तत्त्व में सम्पूर्ण सृष्टि समाहित रहती है।

१८. इच्छा, ज्ञान व क्रिया ही सृष्टि रचना का कारण है।

१९. शरीरों में वही शक्ति प्राणों के रूप में सभी जीवधारियों में विद्यमान रहकर उन्हें जीवन प्रदान करती है। यह प्राणशक्ति चेतनतत्त्व शिव की ही शक्ति है। सभी क्रियाएँ इसी शक्ति से होती हैं।

२०. प्राण और अपान के मध्य का जो अवकाश है उसमें धारणा को स्थिर करने पर शिवतत्त्व का ज्ञान हो जाता है।

२१. जब सभी विचार बन्द हो जाते हैं तो उस शान्त अवस्था को ही समाधि कहा जाता है। वही शून्यता की स्थिति है। उसी में आत्मानुभव होता है।

२२. यह संसार मन की वृत्ति के अनुसार ही दिखाई देने लगता है किसी को यह स्वर्ग से भी सुन्दर दिखाई देता है तो किसी को इसमें दुःख ही दुःख दिखाई देते हैं। उन्हें सुख कहीं दिखाई ही नहीं देता।

२३. ध्यान साधना आरम्भ में स्थूल वस्तु से आरम्भ की जाती है तथा क्रम से सूक्ष्म में करते हुए बढ़ते जाना चाहिए। अन्त में वह स्वयं शिवरूप हो जाता है।

२४. यह परमज्योति ही शिव व शक्ति स्वरूप है जिसका योगी प्रत्यक्ष दर्शन करता है जिससे उसकी भेद दृष्टि समाप्त हो जाती है। यही अद्वैत अवस्था है।

२५. शरीर के भीतर एक अनाहतनाद निरन्तर चलता रहता है जिसे योगी लोग गहरे ध्यान से सुनते हैं। यही शब्द ब्रह्म का स्वरूप है। इसी के बाद वह परब्रह्म को प्राप्त कर लेता है।

२६. संगीत शास्त्र में प्रवीण व्यक्ति अनायास ही मोक्ष प्राप्त कर लेता है।

२७. यह ओंकार (ॐ) ही ईश्वर का वास्तविक स्वरूप है 'सोऽहं यह भी प्रणव का ही स्वरूप है जो हृदय में निरन्तर चलता रहता है। हम इसी की उपासना करते हैं।

२८. सांसारिक पदार्थों का अस्तित्व भी उस परम चैतन्य से ही है जिससे वे उससे

अभिन्न हैं। उससे भिन्न किसी की सत्ता नहीं है। भिन्नता की सारी प्रतीति अज्ञान के कारण ही होती है।

२९. जिसे उस परमतत्त्व की अनुभूति नहीं हुई वही इस मिथ्या जगत् को सत्य मान लेते हैं। ज्ञान की साधना ही जीवन को उच्चता देती है।

३०. केवल यह चेतन आत्मा ही सत्स्वरूप है, अन्य सभी मिथ्या हैं। इस सत्य को जो ठीक से जान लेता है वही ज्ञानी कहा जाता है।

३१. मन को किसी एक स्थान पर केन्द्रित करना है, विधि कुछ भी हो। उसका बार-बार अभ्यास करने से चित्त की चंचल वृत्ति शांत हो जाती है। इस शांत अवस्था में ही उस चैतन्य की अनुभूति होती है।

३२. स्वयं को जान लेना ही परमेश्वर को जान लेना है। दोनों एक ही चेतनतत्त्व के दो नाम मात्र हैं। मुक्ति का अर्थ ही है परम स्वतन्त्रता। यही परमज्ञान की स्थिति है।

३३. यह सारा जगत् स्थूल, सूक्ष्म व पर रूप में विद्यमान है। बाद में आविर्भूत होने वाला पदार्थ अपने पूर्ववर्ती कारणतत्त्व में विद्यमान रहता ही है जैसे बीज में पूरा वृक्ष सूक्ष्म रूप में विद्यमान रहता ही है अन्यथा वह प्रकट कैसे हो सकता है? इस प्रकार विश्व के सभी पदार्थ अपने कारणतत्त्व में विद्यमान रहते हैं। अतः ये सभी परमेश्वर की स्वतन्त्र शक्ति का ही विलास है।

३४. भगवान शिव अपनी दो शक्तियों की सहायता से ही सृष्टि की रचना करते हैं ये हैं चेतन व शक्ति। जिस प्रकार दो अरणी लकड़ियों के रगड़ने से अग्नि उत्पन्न होती है उसी प्रकार उन दोनों शक्तियों की सहायता से ही जगत् की रचना होती है। शिव इन दोनों का स्वामी है। वही परमेश्वर है।

३५. यह सारा जगत् मन के द्वारा ही कल्पित है। मन की विभिन्न वृत्तियाँ ही संसार की कल्पना करती हैं। मन जैसा देखना चाहता है संसार उसे वैसा ही दिखाई देता है। मन के परिवर्तन से संसार अपने आप बदल जाता है। उसे बदलने का कोई प्रयत्न नहीं करना पड़ता। मन के विलीन होने पर संसार भी विलीन हो जाता है।

३६. संसार बाधा नहीं है, यह मन ही बाधा है। मनुष्य ब्रह्म ही है किन्तु इस मन के कारण उसे संसार ही दिखाई दे रहा है। ब्रह्म नहीं दिखाई देता। मन के विलीन होने पर वह ब्रह्म ही हो जाता है।

३७. विज्ञान भैरव की ये ११२ विधियाँ मन की वृत्तियों को गलित करने की ही विधियाँ हैं जिससे वह ब्रह्म स्वरूप ही हो जाता है।

३८. दो विचारों के मध्य जो अवकाश है वह अवकाश ही उपयोगी है। वही स्थिर अवस्था है जिस पर ध्यान केन्द्रित करने से उस चेतनतत्त्व की अनुभूति हो जाती है।

३९. जब तक पानी में हलचल होती रहती है तब तक चन्द्रमा का बिम्ब नहीं दिखाई देता इसी प्रकार मन की चंचलता से ही आत्मा का बिम्ब नहीं दिखाई पड़ता।

४०. चित्त जब शून्य अवस्था में पहुँच जाता है तभी यह ज्ञात होता है कि क्रिया का कारण भी वही है तथा जो ज्ञान व ज्ञेय है उसका ज्ञाता भी वही है। ऐसा ज्ञान हो

जाना ही परम उपलब्धि है।

४१. चित्त की वृत्ति ही ऐसी है कि वह अपनी इच्छित वस्तु की ओर ही आकृष्ट होती है। उस समय दूसरी वस्तु की ओर उसका ध्यान ही नहीं जाता। जब उसे कोई इच्छित वस्तु नहीं मिलती तभी वह व्यर्थ और अनुपयोगी को ही उपयोगी समझकर उसकी ओर आकर्षित होता है। अपने इष्ट के ध्यान में लगने पर वह सांसारिक पदार्थों की ओर आकर्षित होता ही नहीं।

४२. जब चित्त अपने इष्ट में इस प्रकार स्थिर हो जाए जैसे पवन रहित स्थान में दीपक की लौ स्थिर रहती है तो इसी अवस्था में योगी को परमानन्द की अवस्था प्राप्त होती है। इसी को ब्रह्मस्वरूप होना कहते हैं।

४३. मन के कारण ही संसार की सभी वस्तुओं में भेद की प्रतीति होती है। मन अभेद को नहीं जान सकता। आत्मा के तल पर ही अभेद का ज्ञान होता है।

४४. मनुष्य बाहरी विषयों में आनन्द की खोज करता है किन्तु वह वास्तविक आनन्द नहीं है। वास्तविक आनन्द तो स्वयं के भीतर ही है जो स्वयं की आत्मा है।

४५. मनुष्य को जो आनन्द की अनुभूति होती है वह उस चेतन आत्मा के कारण ही होती है क्योंकि आत्मा स्वयं आनन्दस्वरूप है।

४६. शरीरों में भेद होने से आत्म चेतना में भेद नहीं हो जाता। वह सबमें समानरूप से व्याप्त है। ऐसा ज्ञान हो जाना ही परम सिद्धि है।

४७. कई अज्ञानी ऐसे हैं जो आत्माओं को भी भिन्न-भिन्न मानकर उनमें भेद करते हैं। वे ईश्वर को भी भिन्न-भिन्न मानते हैं। ऐसी दृष्टि ही संसार में विकृति पैदा कर द्वेष फैलाती है। भारत का तन्त्र व वेदान्त दर्शन ही समत्व की बात कहता है अन्य कोई दर्शन इसकी बात नहीं करता।

४८. आनन्द स्वयं के भीतर है जो स्त्री सहवास से प्रकट होता है स्त्री उसमें कारण नहीं है। वह स्त्री के अभाव में भी प्रकट हो सकता है। इसे ब्रह्मानन्द सहोदर माना जाता है।

४९. भोजन, पान से जो सुख मिलता है वह भी स्वात्म सुख ही है।

५०. पाँचों ज्ञानेन्द्रियों द्वारा जो उत्तम विषय ग्रहण किये जाते हैं तथा उनसे जो आनन्द मिलता है वह आनन्द ही स्वचेतना का आनन्द है। यह आनन्द ही ब्रह्मरूपिता है। इसमें स्थिर हो जाना ही ब्रह्म हो जाना है। वह आनन्द ही निज का स्वरूप है।

५१. आनन्द मनुष्य का स्वभाव ही है। उसे प्राप्त कर उसी में तन्मय हो जाना यही उपलब्धि है। जिन्हें आनन्द नहीं मिला वे ही दुःखों के रोने रोते रहते हैं। आनन्द में स्थिर हो जाना ही ब्रह्म स्वरूप हो जाना है।

५२. मन जिस-जिस मनोहर व सुन्दर वस्तु की ओर जाता है उसमें उसे वहीं स्थिर करने का अभ्यास करे। इसमें मन को स्थिर करने से योगी परम आनन्दमय स्वात्म स्वरूप में प्रतिष्ठित हो जाता है।

५३. जब चित्त में किसी प्रकार का स्पन्दन ही नहीं होता कोई हलचल ही नहीं होती तो समाधि की यही अवस्था परमगति है।

५४. जब ध्यान में ऐसी स्थिति बन जाये कि वह ध्यान में इतना गहरा चला जाये कि उसे बाहर की वस्तुएँ आँखें खुली रहने पर भी न दिखाई दे तो इसी स्थिति को प्राप्त कर योगी परावस्था को प्राप्त हो जाता है।

५५. ध्यान में दृष्टि को स्थिर करने से योगी को स्वात्मस्वरूप की अभिव्यक्ति हो जाती है। ध्यान में बाहरी दृश्यों के विलीन हो जाने पर अपनी आत्मा का प्रकाश दिखाई देना आरम्भ हो जाता है। वह प्रकाश आत्मा का ही प्रकाश है।

५६. मन के शान्त होने से ही साधक को अपने आत्मस्वरूप का अनुभव हो जाता है।

५७. किसी भी स्थूलपदार्थ पर बिना पलक झपके एकटक दृष्टि डाले। इस अभ्यास से मन अन्तर्मुख हो जाता है।

५८. प्राणों को स्थिर करने से एकाग्रता सिद्ध होती है।

५९. जब इन इन्द्रियों को भीतर के सुख का अनुभव हो जाता है तो ये बाह्य सुख अपने आप छूट जाते हैं, उनको छोड़ना नहीं पड़ता।

६०. धार्मिक भावना दृढ़ होने पर यौन आकर्षण कम हो जाता है अथवा दब जाता है।

६१. सृष्टि का प्रथमतत्त्व शिव है। यह अद्वैत का स्वरूप ही परमेश्वर है। इसी की उपासना से साधक ज्ञानस्वरूप हो जाता है।

६२. जिस प्रकार आकाश भी शून्य स्वभाव है तो भी उसकी सत्ता को स्वीकार किया गया है। इसी प्रकार वह परमात्मा भी शून्य स्वभाव वाला होते हुए भी उसकी सत्ता है, उसे कई प्रयोगों व प्रमाणों से सिद्ध किया जा सकता है। वह किसी भी प्रकार की आकृति से रहित होते हुए भी मिथ्या नहीं है।

६३. वही (ईश्वर) विश्वव्यापी चैतन्य है जो अपने भीतर आत्मा रूप में अवस्थित है।

६४. शरीर में जो पीड़ा होती है वह उस आत्म चैतन्य के कारण ही होती है। उसकी अनुपस्थिति में पीड़ा नहीं हो सकती। अतः पीड़ा का अनुभव करने वाली चेतना ही है।

६५. साधक जब अन्तर्मुखी हो जाता है तो उसे आत्मस्वरूप का ज्ञान हो जाता है। ये सारी इच्छाएँ, वासनाएँ आदि केवल मन की ही उपज हैं। मन के शान्त होने पर योगी आत्मस्वरूप ही हो जाता है।

६६. मनुष्य का वास्तविक स्वरूप उसकी आत्मा है किन्तु वह मन को ही अपना स्वरूप मान लेता है। अपने को चैतन्य स्वरूप मानने पर साधक चिदानन्द स्वरूप में लीन हो जाता है।

६७. यह आत्मा ही ब्रह्म है। 'अयमात्मा ब्रह्म' ऐसी भावना दृढ़ हो जाने पर योगी को परमार्थ तत्त्व का ज्ञान हो जाता है।

६८. शरीरों के भिन्न होने से चेतन में भिन्नता नहीं आती। यह चेतन तत्त्व सभी प्राणियों में विद्यमान है। यह चेतनतत्त्व ही ब्रह्म है।

६९. यह मन ही वासनाग्रस्त है। वासना इसका निजधर्म है। वासना के कारण ही इसका जन्म व पुनर्जन्म होता है। वासना पूर्ति के लिए ही वह नाना प्रकार के षडयन्त्र करता है तथा इसी के कारण वह कभी सुख का अनुभव नहीं कर

सकता।

७०. ये काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि चित्त की वृत्तियाँ ही हैं। इनमें से किसी एक वृत्ति में धारणा को स्थिर करें। उसे देखते रहें जिससे अन्य वृत्तियाँ दब जाँएगी अथवा क्षीण हो जाँएगी। इसके बाद साधक को आत्मचिन्तन में लग जाना चाहिए जिससे वह वृत्ति भी शान्त हो जायेगी।

७१. जिस प्रकार कछुआ अपने अंगों को भीतर समेट लेता है उसी प्रकार योगी इन सभी वृत्तियों को अपने भीतर समेटकर सुखी होता है। जब साधक का बोध जाग्रत हो जाता है तो बाह्य विषयों से उसका सम्पर्क टूट जाता है, तभी उसका स्वात्म स्वरूप प्रकट होता है।

७२. जिन्हें उच्च का ज्ञान नहीं है वे ही निम्न स्थिति को स्वीकार करने को बाध्य होते हैं। जिन्होंने उस परमतत्त्व को नहीं जाना वे ही इस संसार को सत्य मानकर भोगों में ही लीन रहते हैं।

७३. जिस प्रकार सिनेमा के पर्दे पर कई दृश्य दिखाई तो पड़ते हैं किन्तु वे सत्य नहीं होते, भ्रम पैदा करते हैं कि वे वास्तविक हैं। ऐसा ही यह जगत् अज्ञानी को सत्य ज्ञात होता है किन्तु ज्ञानी इसे मिथ्या कह सकता है।

७४. सुख दु:ख सभी मन के धर्म हैं। सुख दु:ख का अनुभव मन को होता है जिसका कारण मन की वासना ही है। वासना की पूर्ति होने पर वह सुखी होता है। तथा पूर्ति न होने पर वह दुखी होता है। चेतनतत्त्व को सुख दु:ख का अनुभव नहीं होता। योगी को इसी चेतन में अपने ध्यान को केन्द्रित कर देना चाहिए।

७५. मनुष्य किसी न किसी आलम्बन की पकड़कर ही जीवित रहता है। बिना अवलम्बन के वह रह ही नहीं सकता। वह आलम्बन ही जीवात्मा का स्वरूप है। मन की निरालम्ब अवस्था ही चैतन्य का स्वरूप है।

७६. जिस प्रकार जल से उसकी लहरें भिन्न नहीं हैं जिस प्रकार अग्नि से उसकी ज्वाला भिन्न नहीं है जिस प्रकार सूर्य का प्रकाश सूर्य से भिन्न नहीं है उसी प्रकार यह विश्व शिव से भिन्न नहीं है बल्कि उसी के विभिन्न रूप मात्र हैं। भिन्नता की प्रतीति अज्ञानवश है।

७७. जब तक व्यक्ति को अपने वास्तविक स्वरूप आत्मा का ज्ञान नहीं हो जाता तभी तक वह अज्ञानजनित संसार के विषयों में भटकता रहता है। इस भटकाव में जब विराम लग जाता है तभी उसका चित्त आत्मा में स्थिर होता है। अज्ञान के कारण ही वह विषयों में भटकता है।

७८. इस परमतत्त्व को जानने की जिज्ञासा ईश्वरानुग्रह से कुछ ही व्यक्तियों में होती है तथा किसी सद्‌गुरु के मिलने से वह उसे जानकर अपने जीवन को धन्य बना देता है।

७९. चित्त की एकाग्रता के बिना इस जगत् में श्रेष्ठता की कभी प्राप्ति नहीं हो सकती तथा इस एकाग्रता से ईश्वर तक की प्राप्ति भी असम्भव नहीं है।

८०. जब चित्त निर्विकल्प दशा में पहुँच जाता है तो एक क्षण के लिए उसे बड़ी शान्ति

का अनुभव होता है। इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है उसी शान्त अवस्था में शिव का स्वरूप अभिव्यक्त हो जाता है।

८१. धर्म शास्त्रकारों ने शरीर शुद्धि पर अधिक बल दिया है किन्तु परमेश्वर के वास्तविक स्वरूप के साक्षात्कार में यह शुद्धि सहायक नहीं होती अतः इसको अशुद्धि ही माननी चाहिए।

८२. तन्त्र शास्त्र में शरीर शुद्धि को चित्त की निर्मलता में कारण नहीं माना है कि शरीर शुद्ध होने से चित्त भी शुद्ध हो जायेगा। शरीर शुद्धि मन को पवित्र नहीं कर सकती। शुद्ध मन ही ईश्वर का साक्षात्कार कर सकता है।

८३. जिस योगी का चित्त परमतत्त्व में स्थिर हो गया है वह विषयों का उपभोग करता हुआ भी उनके दोषों से उसी प्रकार लिप्त नहीं होता जैसे कि जल में कमल पत्र निर्लिप्त रहता है।

८४. सभी स्नानों में मानस स्नान को ही सर्वोत्तम माना गया है। इसी से भगवत् प्राप्ति होती है।

८५. सृष्टि में जो सारा ज्ञान है वह उस चैतन्य के ही कारण है अन्यथा उस चैतन्य के बिना ज्ञान का कोई आधार ही नहीं है।

८६. जिस प्रकार सूर्य से ही सब प्रकाशित होते हैं, सूर्य को कौन प्रकाशित कर सकता है उसी प्रकार चैतन्य से ही सब जाने जाते हैं, चैतन्य को कौन जान सकता है।

८७. जीवन में सुखी होने का एक ही राज है कि सभी में एक ही ब्रह्म की सत्ता को स्वीकार करना। यह भिन्नता वाली सभ्यता ही सभी दुखों की जननी है। यह द्वैतभाव ही सभी दुखों का कारण है।

८८. सुख दुःख का कारण मन की वासना ही है। अपेक्षा के कारण ही राग द्वेष होता है। जिसकी कोई अपेक्षा ही नहीं है वह राग द्वेष से मुक्त रहता है।

८९. वह शिवतत्त्व शून्य जैसा भासने पर भी अशून्य ही है। जिसकी सत्ता है। उसका स्थान शून्य ही है जिसमें वह निवास करता है। वह निरपेक्ष सत्ता है जो किसी के सापेक्ष नहीं है।

९०. उस चैतन्य तत्त्व को जानने की एक ही विधि है इस चंचल मन को स्थिर करना। मन के स्थिर होते ही उस चैतन्य की अनुभूति हो जाती है।

९१. यह सम्पूर्ण सृष्टि ईश्वर का ही रूप है। इसे ईश्वर से भिन्न मानना भ्रम पूर्ण है। अतः यह मिथ्या ही है इसकी कोई वास्तविक सत्ता नहीं है। व्यवहार में इसे चाहे सत्य मान लिया जाय किन्तु परमार्थ में यह असत्य ही है।

९२. संसारी व्यक्ति द्वैत में जीता है। वह दूसरे को दूसरा समझता है इसलिए वह दूसरों से भयभीत रहता है। ज्ञानी अद्वैत में जीता है। वह सबको अपना ही स्वरूप मानता है अतः वह किसी से भयभीत नहीं होता।

९३. दूसरों के कारण ही बन्धन होता है एक में कौन किसको बाँधे। जब बन्धन की कल्पना होती है तभी मोक्ष की बातें होती हैं। जब बन्धन है ही नहीं तो मोक्ष की कल्पना करना ही व्यर्थ है। अज्ञानी व्यक्ति को भयभीत करने के लिए ही बन्ध

और मोक्ष की कल्पना की गई है। तत्त्वज्ञानी के लिए यह कोरी कल्पनामात्र है।

९४. इन ११२ धारणाओं को जो ठीक से समझ लेता है वह पुरुष ज्ञानी हो जाता है तथा जो व्यक्ति इनमें से किसी एक की भी साधना पूर्ण कर लेता है वह साक्षात् भैरव बन जाता है यह ध्रुव सत्य है। वह अजर अमर हो जाता है। वह अणिमा, गरिमा आदि सिद्धियों से युक्त हो जाता है।

९५. ये सब पूजा पाठ, जप, तप, ध्यान, होम, यज्ञ, याग, तीर्थाटन आदि कर्मकाण्डों का विधान उन स्थूल शरीरधारी व्यक्तियों के लिए है जिनको ईश्वरानुभूति नहीं हुई है।

९६. जो आत्मज्ञानी हैं, जो अद्वैत में ही स्थित हो गये हैं जिनको उस परमतत्त्व का ज्ञान हो गया है जिनको ईश्वर व जीव में अभेद की प्रतीति हो गई है, उनके लिए इन कर्मकाण्डों की आवश्यकता नहीं है। वे सब इनसे मुक्त ही हैं। यदि वे करे तो भी कोई दोष नहीं है किन्तु ऐसा करने से वे फिर वासना से ग्रस्त हो जाते हैं। इसलिए न करना ही अच्छा है।

९७. 'सोऽहम्' की निरन्तर भावना को ही 'जप' कहा जाता है। अनाहत नाद की भावना करना भी जप कहा जाता है।

९८. बुद्धि जब बिना किसी आश्रय के स्थिर हो जाये ऐसी समाधि अवस्था को ही ध्यान कहा जाता है। निश्चेष्ट स्थिति ही 'ध्यान' है।

९९. उस चैतन्य स्वरूप भैरव में दृढ़ आस्था रखना ही वास्तविक पूजा है। अपने स्वरूप को उसमें लीन कर देना ही परमार्थ में पूजा है।

१००. जब जीव स्वयं ईश्वर रूप हो जाता है तो यही अद्वैत अवस्था ही जीव को पूर्ण तृप्ति दे सकती है। यही जीव की पूर्णता है। अपूर्णता ही सभी दुःखों का कारण है।

१०१. उस एक ही बोध भैरवरूप अग्नि में पंचमहाभूत, सभी इन्द्रियगण, अनेक विषय तथा मन के साथ सबकी आहुति दे देना ही वास्तविक होम या हवि कहा जाता है। उस एक ही बोधभैरव में लीन होना ही वास्तविक होम है।

१०२. जल के स्नान से केवल शरीर की शुद्धि होती है यह मन को शुद्ध नहीं कर सकता। मन की शुद्धि के बिना जीव का शुद्धिकरण नहीं होता। जीव की शुद्धि तभी होती है जब जीव चेतना उस परम चेतना में लीन कर दी जाये। यही सर्वोत्तम स्नान है। यही परमगति है।

१०३. ये सभी बाह्य पूजा आदि उन अज्ञानियों के लिए है जो शिव व शक्ति को भिन्न मानते हैं जो जीव व शिव को भिन्न मानते हैं जो सृष्टि व सृष्टा में भेद करते हैं। अद्वैत का बोध होन पर इनकी कोई उपयोगिता नहीं रहती।

१०४. इस शास्त्र का उपदेश किसी अनाधिकारी व्यक्ति को प्राण का संकट उपस्थित होने पर भी नहीं करना चाहिए। अन्य सम्प्रदाय में दीक्षित, कपटी और क्रूर व्यक्ति को तथा गुरु के चरणों में श्रद्धा न रखने वाले शिष्य को कभी भी इसका उपदेश नहीं करना चाहिए। अनधिकारी को उपदेश देने से वह इसके रहस्यों को न समझकर इसका दुरुपयोग ही करेगा जिससे वह स्वयं का तथा समाज का अहित

भी कर सकता है। उच्च ज्ञान को सामान्य व्यक्ति को देने का निषेध किया जाता रहा है।

१०५. जो जीवन का सारतत्त्व है जो परमसुख व अक्षय शान्ति प्रदान करने वाला है उसका त्याग कर असार को ग्रहण करने में कौन सी बुद्धिमानी है। यह गुप्त ज्ञान है जो गुरु शिष्य परम्परानुसार किसी योग्य शिष्य को ही देना चाहिए। जो इस परम्परा का उचित निर्वाह कर सके।

१०६. भगवान् भैरव (शिव) का यह उपदेश सुनकर उसी की भैरवी शक्ति उसमें विलीन होकर एकाकार हो गई। शिव शक्ति की भेद की प्रतीति समाप्त होकर अद्वय रूप में प्रतिष्ठित हो गई।

१०७. ग्रन्थ के अन्त में भैरवी ने इस ज्ञान को "रुद्रयामल तन्त्र का गूढ़ रहस्य समझ लिया है।" ऐसा कहकर इस रहस्यमय ज्ञान को सुनकर परम सन्तुष्ट होने की बात कही है। इसी ग्रन्थ के प्रथम श्लोक में भी रुद्रयामल शब्द आया है। यामल ग्रन्थों में रुद्रयामल का सर्वोच्च स्थान हैं।

१०८. अतः इस विज्ञान भैरव तन्त्र को रुद्रयामल का गूढ़ रहस्य कहना उचित ही है। इसकी किसी भी एक धारणा पर चलकर साधक चित्शक्ति में विलीन होने की विधि खोज सकता है। यही इस ग्रन्थ का उद्देश्य भी है।

विज्ञान	=	सांसारिकता-भौतिकता (बोध)
भैरव	=	अत्यन्त उग्रता से विनाश करने वाला शिवतत्त्व

संसार के अज्ञानी जीवों का लौकिक व भौतिक मायाजाल का नाश करके आत्मज्ञान एवं परमतत्त्व की सहज अनुभूति की तन्त्र साधना है 'विज्ञान भैरव।'

विज्ञान भैरव

(भैरव-भैरवी सम्वाद)

।। श्री भैरवी उवाच ।।
श्रुतं देव मया सर्व रुद्रयामलसंभवम् ।
त्रिकभेदमशेषेण सारात्सारविभागशः ।।१।।
अद्यापि न निवृत्तो मे संशयः परमेश्वर ।

व्याख्या—तन्त्र शास्त्रों के उपदेष्टा भगवान शिव स्वयं भैरव स्वरूप हैं तथा भैरवी उन्हीं की शक्ति है जो उनसे भिन्न नहीं है किन्तु वह शिव की परा शक्ति से अनभिज्ञ है। उसने तन्त्र शास्त्र के कई ग्रन्थ पढ़े हैं किन्तु उसका संशय नहीं मिटा है। वह भगवान् शिव की पराशक्ति को जानने की इच्छा से उनसे कई प्रश्न करती है जिनके माध्यम से वह जानना चाहती है कि आपका वास्तविक स्वरूप क्या है तथा इस सृष्टि में आपकी क्या भूमिका है? यह सृष्टि आप से भिन्न है अथवा अभिन्न है? यह आप ही का स्वरूप है अथवा आपकी शक्ति का स्वरूप है? तन्त्र शास्त्रों में भगवान् के पाँच कार्य माने गये हैं—सृष्टि रचना, स्थिति और संहार करना तथा तिरोधान व अनुग्रह भी उसके कार्य माने गये हैं। इनमें तिरोधान के कारण यह जीव अपने वास्तविक स्वरूप को भूल जाता है जिससे वह जन्म-मृत्यु के फेर में पड़ जाता है किन्तु ईश्वर के अनुग्रह के कारण ही वह इस जन्म-मृत्यु के चक्कर से छूटकर मुक्त हो जाता है। ईश्वर के इस अनुग्रह को ही तन्त्र शास्त्र में शक्तिपात कहा गया है। शक्तिपात अर्थात् जिस पर ईश्वर की कृपा दृष्टि होती है उसी की रुचि शास्त्रों के अध्ययन में होती है तथा उसी पर किसी सद्गुरु की कृपा होती है जिससे वह शास्त्रों के अध्ययन तथा गुरु के ज्ञानोपदेश से अपने वास्तविक स्वरूप को जान लेता है जिससे वह मुक्त हो जाता है।

उस परमतत्त्व के ज्ञान के लिए तन्त्र शास्त्र में अनुपाय पद्धति अर्थात् सहज योग की बात कही गयी है कि बिना यौगिक क्रिया के उसका ज्ञान नहीं होता तथा बिना ज्ञान के मुक्ति भी नहीं होती। भैरवी इसी अनुपाय पद्धति के विषय में जानना चाहती है जिससे वह स्वयं परमात्म स्वरूप में विलीन हो सके। इसके लिए भैरवी, भगवान् भैरव (शिव) से कई प्रश्न पूछती है जिनके समाधान में भगवान् भैरव उसे ११२ धारणाओं का वर्णन कर उसे सन्तुष्ट करते हैं जिससे उसका संशय दूर हो जाता है तथा अपनी परितृप्ति (प्रसन्नता) का वर्णन करते हुए वह शिव के साथ तन्मय हो जाती है। कोई भी साधक इसी विधि का यदि सफलतापूर्वक प्रयोग करे तो वह भी मुक्त हो सकता है। यह अनुपाय अर्थात् सहज योग की विधि है।

यह अनुपाय पद्धति क्या है? वेदान्त तथा तन्त्र की विधि अनुपाय की है। सृष्टि में जिसे परम तत्त्व, ईश्वर, ब्रह्म आदि कहा गया है वह एक चेतन शक्ति है जो शरीर में

आत्मरूप है। उसे जान लेना ही सृष्टि के रहस्यों को जान लेना है। उसे किसी क्रिया से नहीं जाना जा सकता। वह बोधस्वरूप है जिसका मात्र बोध होता है। वह कोई वस्तु नहीं है जिसको प्राप्त करने के लिए कोई प्रयत्न किया जाय या कोई उपाय किया जाय। यह अनुपाय का विषय है। पतंजलि का मार्ग क्रिया का मार्ग है, उपाय का मार्ग है किन्तु ज्ञान का मार्ग केवल जानने की बात कहता है कि जो उपलब्ध ही है उसे जान लेना मात्र है। सांसारिक वस्तुएँ प्राप्त करने के लिए उपाय करना पड़ता है किन्तु ईश्वर प्राप्ति उपाय से नहीं होती, यह अक्रिया का मार्ग है। क्रिया में अहंकार होता है कि 'मैं कर रहा हूँ।' यह 'मैं पन' ही बाधा बन जाता है। परमात्मज्ञान ईश्वर कृपा से ही होता है जिसके लिए पात्रता अनिवार्य शर्त है। सभी प्रयत्न पात्रता प्राप्ति के लिए ही करना पड़ता है तब ईश्वर कृपा स्वतः हो जाती है। यह आयास रहित मार्ग है। कठोपनिषद् में भी कहा गया है कि—

"यह आत्मा न तो प्रवचन से, न बुद्धि से, न वह बहुत सुनने से ही प्राप्त हो सकता है। जिसको वह स्वीकार कर लेता है उसके द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है। यह आत्मा उसके लिए अपने यथार्थ स्वरूप को प्रकट कर देता है।" यही बात मुण्डक उपनिषद् में भी कही गई है। अतः वेदान्त और तन्त्र इस एक ही बात पर सहमत हैं कि यह अक्रिया का, अनुपाय का मार्ग है जिसे जानना मात्र है। यह बोध स्वरूप है। भगवान् शिव की ये ११२ विधियाँ केवल बोध स्वरूप ही हैं।

इस ग्रन्थ का आरम्भ ही भैरव-भैरवी सम्वाद के रूप में हुआ है जिसमें भैरवी एक जिज्ञासु की भाँति सर्वप्रकाशमय भगवान् भैरव (शिव) से पूछती है कि—

"हे देवादि देव परमेश्वर समस्त विश्व को प्रकाशित करने वाले स्वात्मस्वरूप भगवन् समस्त रोगों को नष्ट करने वाले रुद्र और अपनी शक्ति के सामरस्य स्वरूप से जिसकी उत्पत्ति हुई है ऐसे समस्त शास्त्रों को मैंने पढ़ लिया है, सुन लिया है। ये शास्त्र त्रिकभेद से अर्थात् तीनों तत्त्वों के भेद से (परा, परापरा, तथा अपरा) शक्ति के सारभूत शिव, शक्ति और जीव नामक तीनों भेदों से तथा ज्ञान, क्रिया आदि के प्राधान्य से और अप्राधान्य का प्रतिवादन करने से अनेक भेदों में विभक्त हो जाते हैं उन सब के सारभूत त्रिक शास्त्र को मैंने पूरी सावधानी से सुन लिया है किन्तु मेरा सन्देह अभी भी दूर नहीं हुआ है। शिव और शक्ति के सामरस्य से उत्पन्न हुए ब्रह्म यामल, विष्णु यामल, रुद्र यामल, भैरव यामल आदि में जो कुछ आपने कहा है वह सब मैंने पहले आपसे सुना ही है। फिर भी यह सन्देह रह ही गया कि शिव, शक्ति और जीव में आन्तर रूप में तो एकता ज्ञात होती है किन्तु बाह्य रूप में तीनों में भिन्नता का ही बोध होता है इसका कारण मेरा अज्ञानमात्र है। यह भी मैंने सुना है कि—

"वेद से श्रेष्ठ शैव शास्त्र है, शैव से श्रेष्ठ वाम शास्त्र है, वाम से श्रेष्ठ दक्षिण शास्त्र है, दक्षिण से श्रेष्ठ कौल शास्त्र है और उससे भी श्रेष्ठ त्रिक शास्त्र है। इनसे भी श्रेष्ठ अन्य शास्त्र है उनको भी मैंने सुन लिया फिर भी मेरा संशय अभी दूर नहीं हुआ है। अद्वैत सिद्धान्त के अनुसार जीव शिव से अभिन्न है किन्तु माया के कारण उसका स्वरूप संकुचित हो गया है जिससे जीव को शिव से भिन्न मान लिया गया है। मेरे इसी अज्ञान को दूर करने की कृपा करें।"

किं रूपं तत्त्वतो देव शब्दराशिकलामयम् ।।२।।
किं वा नवात्मभेदेन भैरवे भैरवाकृतौ ।

त्रिशिरोभेदभिन्नं वा किं वा शक्तित्रयात्मकम् ।।३।।
नादबिन्दुमयं वाऽपि किं चन्द्रार्धनिरोधिकाः ।
चक्रारूढमनच्कं वा किं वा शक्तिस्वरूपकम् ।।४।।

व्याख्या—यह बात निर्विवाद रूप से सत्य है कि मात्र पुस्तकें पढ़ लेने अथवा प्रवचन मात्र सुन लेने से ज्ञान नहीं होता। यह ईश्वरीय ज्ञान ईश्वर के अनुग्रह के बिना तथा बिना गुरु के भी नहीं होता। **पुस्तकें एक वाग्जाल है जिससे मनुष्य भटका अधिक है, पहुँचा नहीं है। यदि पुस्तकों से तथा उपदेशों को सुनने मात्र से ज्ञान हो जाता तो आज संसार में कोई अज्ञानी रहता ही नहीं। यह ज्ञान का मार्ग अति कठिन व दुर्गम है जिसे बिना गुरु की सहायता के पार नहीं किया जा सकता।**

कठोपनिषद् में भी कहा गया है कि—"उठो, जागो और श्रेष्ठ पुरुषों के समीप जाकर ज्ञान प्राप्त करो। जिस प्रकार छुरे की धार तीक्ष्ण और दुस्तर होती है, तत्त्वज्ञानी लोग उस मार्ग को वैसा ही दुर्गम बताते हैं।" (३/१४)

भैरवी ने भी भगवान् भैरव से तन्त्र के कई ग्रन्थों को सुना किन्तु इन सबके सुनने से उसको कोई समाधान नहीं मिला। इन ग्रन्थों को सुनने से उसका संशय और बढ़ गया कि वे सभी ग्रन्थ भिन्न-भिन्न बातें कहते हैं अतः इनमें कौन सही है तथा कौन गलत है; इसका वह निर्णय नहीं कर पा रही है। अतः वह फिर भगवान् शिव से पूछती है कि इनमें सत्य क्या है तथा जिस परमतत्त्व की बात आप कहते हैं उसका वास्तविक स्वरूप क्या है? इसे मुझे बताइये। वह शिव से आठ ऐसे प्रश्न पूछती है तथा उनका समाधान चाहती है।

उसका पहला प्रश्न है कि वह परमतत्त्व कैसा है जिसका वर्णन नहीं किया जा सकता। उसके स्वरूप को भिन्न-भिन्न तन्त्र ग्रन्थों में भिन्न-भिन्न बताया गया है। एक ग्रन्थ में उसे शब्द राशिमय बताया गया है। क्या यही उसका वास्तविक स्वरूप है? क्या यह भैरव बोध-स्वरूप है जो सदा अपनी शक्ति से संयुक्त रहता है? इन दोनों के संयोग से ही 'अहम्' की निष्पत्ति होती है? इसलिए यह बोध भैरव क्या शब्द ब्रह्म स्वरूप है? पुराणों में शब्दब्रह्म को परब्रह्म से भिन्न बताया गया है कि शब्दब्रह्म में निष्णात व्यक्ति परब्रह्म को प्राप्त कर लेता है। अतः ये दोनों क्या भिन्न हैं? कुल दर्शन में उसे शब्द राशिमय कहा गया है।

भैरवी का दूसरा प्रश्न है कि क्या भयानक स्वरूप वाले भैरव की नौ शक्तियों के रूप में वह परमतत्त्व अवस्थित है? नेत्र तन्त्र में नवात्म को ही परम तत्त्व माना है।

भैरवी का तीसरा प्रश्न है कि क्या त्रिशिरा भैरव ही वह परम तत्त्व है जिसका वर्णन त्रिशिरा तन्त्र में है? इसका वर्णन तन्त्रालोक में भी है।

भैरवी का चौथा प्रश्न है कि क्या वह शक्ति त्रयात्मक है? अर्थात् शिव, शक्ति तथा जीवरूप से तथा इसकी अधिष्ठात्री परा, परापरा और अपरा नामक तीन शक्तियों वाला है? अथवा इच्छा, ज्ञान व क्रिया ही इसका स्वरूप है? जैसा विभिन्न तन्त्र ग्रन्थों में मिलता है।

भैरवी का पाँचवां प्रश्न है कि क्या वह नाद बिन्दु स्वरूप है? बिन्दु प्रकाश स्वरूप है तथा नाद विमर्श रूप है।

भैरवी का छठा प्रश्न है कि इस नाद बिन्दु के ही रूप अर्द्ध-चन्द्र निरोधिका आदि उसके स्वरूप हैं?

भैरवी का सातवां प्रश्न है क्या उसका स्वरूप चक्रारूढ़ है अर्थात् वह मूलाधार आदि स्थानों में षट्दल आदि स्थलों में आरूढ़ है अर्थात् इनमें विद्यमान कोई तत्त्व है? या वह कुण्डालिनी की आकृति का कोई तत्त्व है?

भैरवी का आठवां प्रश्न है कि क्या वह केवल शक्ति स्वरूप है?

भैरवी इस प्रकार भगवान् भैरव के सामने आठ विकल्प देती है कि शास्त्रों में ये सब भिन्न-भिन्न बातें कही गई है जिनमें कौन सी सत्य है तथा आपका वास्तविक स्वरूप इनमें कौन सा है? कृपया यह मुझे बताने की कृपा करें।

परापरायाः सकलमपरायाश्च वा पुनः ।
पराया यदि तद्वत् स्यात् परत्वं तद्विरुध्यते ।।५।।
नहि वर्णविभेदेन देहभेदेन
परत्वं निष्कलत्वेन सकलत्वे न तद्भवेत् ।।६।।

व्याख्या—पूर्व में इस शक्ति के तीन रूप बताये गये हैं—परा, परापरा तथा अपरा। इनके सम्बन्ध में भैरवी पुनः प्रश्न करती है कि परापर और अपरा का सकल (साकार) स्वरूप बन सकता है किन्तु परा देवी को भी यदि सकल (साकार) माना जायेगा तो उसका परत्व ही नष्ट हो जायेगा अतः परा का स्वरूप निष्कल (निराकार) ही मानना पड़ेगा और जब वह निष्कल (निराकार) है तो पूजा, ध्यान आदि की स्थिति कैसे बन सकती है क्योंकि पूजा आदि तो सकल स्वरूप की ही की जा सकती है। क्रम दर्शन में शक्ति को ही परमतत्त्व माना गया है तथा यह शक्ति ही शिव को उपदिष्ट है। इसी के आधार पर भैरवी पूछती है कि क्या यह शक्ति ही परमतत्त्व है? वर्णों अथवा देह की विशेषता के कारण उनमें परत्व नहीं होता। जो विशेषता निष्कल (निराकार) की है वह सकल (साकार) में प्राप्त नहीं हो सकती अतः परावस्था को परापरा, अपरा अवस्था से भिन्न ही मानना पड़ेगा। भैरवी पूछती है कि क्या मेरा यह विचार सही है? कृपया बताइये।

प्रसादं कुरु मे नाथ निःशेषं छिन्धि संशयम् ।

इस प्रकार भैरवी ने आगम शास्त्रों में जो भिन्न-भिन्न विचार दिये गये हैं उनको लेकर भगवान् शिव से पूछती है कि इन सबमें आपका वास्तविक स्वरूप क्या है इसे बताकर आप मेरे संशय को दूर करिये। वह परमतत्त्व वास्तव में निराकार है अथवा साकार है? यदि वह निराकार है तो वह साकार सृष्टिरूप कैसे बन जाता है? यदि साकार ही है तो उसे निराकार क्यों कहा जाता है? अथवा निराकार और साकार उसके दो रूप हैं अथवा दोनों कोई भिन्न तत्त्व हैं? अतः इन सबका कृपा करके समाधान करने की कृपा करें।

।। श्री भैरव उवाच ।।

साधु साधु त्वया पृष्टं तन्त्रसारमिदं प्रिये ।
गूहनीयतमं भद्रे तथापि कथयामि ते ।।७।।

व्याख्या—यह भैरवी स्वयं भगवान् भैरव की ही संविद शक्ति है किन्तु वह भी उनके वास्तविक स्वरूप को नहीं जानती। वह साकार और निराकार के रहस्यों से सर्वथा अनभिज्ञ रहती है जिससे वह बार-बार प्रश्न पूछती रहती है कि इन दोनों का रहस्य क्या है? यदि निराकार ही सृष्टिरूप में साकार बनता है तो उसकी विधि क्या है? यदि आरम्भ में ही दोनों दो भिन्न शक्तियाँ हैं तो इन दोनों का संयोग किस प्रकार व किस कारण से होता है? वह परमतत्त्व चेतन स्वरूप है अथवा जड़ स्वरूप है? यदि वह चेतन तत्त्व है तो जड़

सृष्टि की रचना के लिए क्या करता है? शिव और शक्ति दो भिन्न तत्त्व हैं अथवा एक ही के दो रूपमात्र हैं ऐसे अनेक प्रश्न पूछे।

इन प्रश्नों को सुनकर भगवान् भैरव अति प्रसन्न हुए। कोई जिज्ञासु जब अपनी आध्यात्मिक शंकाओं को किसी गुरु के सामने रखता है तो गुरु को काफी प्रसन्नता होती है क्योंकि ऐसा ज्ञान किसी व्यक्ति विशेष के लिए ही न होकर समस्त मानवजाति के हित में होता है जिसे देने के लिए गुरु सदा उत्सुक रहता है। किसी गूढ़ व रहस्यमय ज्ञान को देने के लिए गुरु स्वयं योग्य शिष्य की तलाश में रहता है जिसे वह ज्ञान दे सके। कृष्ण ने भी अर्जुन को ही इसका योग्य शिष्य व सुपात्र समझकर उसे गीता के रहस्य को प्रकट किया जो किसी अयोग्य पात्र को नहीं दिया जा सकता था। ऐसा ही रहस्यमय ज्ञान भगवान् भैरव ने भैरवी को देने के लिए उसे योग्य पात्र समझकर कहने लगे कि हे प्रिये! तू बड़ी प्रतिभासम्पन्न है जो ऐसे प्रश्न पूछ रही है। सामान्य व्यक्ति ऐसे गूढ़ प्रश्न नहीं पूछ सकता। तू जिस प्रकार के प्रश्न पूछ रही है कि वे सब समस्त मानव जाति के लिए कल्याणकारी है तथा परमानन्द की प्राप्ति के लिए है। इस प्रकार के प्रश्न मुझे बहुत प्रिय है जिनके लिए मैं बार-बार तुझे साधुवाद देता हूँ। सब शास्त्रों में कही गई सारभूत बात यह अत्यन्त गोपनीय है व रहस्यमय है जिसे मैं तुम्हें इसलिए बता रहा हूँ कि तुम्हारे में इसको समझ सकने की व इसे आत्मसात करने की क्षमता है। इस रहस्य को बहुत छिपाकर रखना चाहिए तथा बिना योग्य पात्र के इसे किसी को भी नहीं देना चाहिए। इस पर विचार, ध्यान व मनन करते रहना चाहिए। समस्त तन्त्र ग्रन्थों का यही सार है जिसे मैं तुम्हें दे रहा हूँ। यह ज्ञान वेदों से भी उत्तमकोटि का है। इससे उच्च कोई ज्ञान नहीं है, ऐसा मान लेना चाहिए।

यटिकञ्चित् सकलं रूपं भैरवस्य प्रकीर्तितम् ।
तदसारतया देवि विज्ञेयं शक्रजालवत् ।।८।।
मायास्वप्नोपमं चैव गन्धर्वनगरभ्रमम् ।
ध्यानार्थं भ्रान्तबुद्धीनां क्रियाडम्बरवर्तिनाम् ।।९।।
केवलं वर्णितं पुंसां विकल्पनिहतात्मनाम् ।।१०।।

व्याख्या—भगवान् भैरव भैरवी द्वारा उठाये गये प्रश्नों के उत्तर में सर्वप्रथम निराकार (निष्कल) व साकार (सकल) स्वरूप का वर्णन करते हैं क्योंकि सामान्य मनुष्य उसी को सत्य मानकर उस निष्कल (निराकार) स्वरूप की अनभिज्ञता के कारण उसकी उपेक्षा करता रहा है। वे कहने लगे कि इस सृष्टि में जो कुछ भी साकार रूप में दिखाई देते हैं वे सब अस्थिर विनाशी है, सदा नहीं रहने वाले हैं किन्तु अज्ञानीजन उन्हीं को सत्य व शाश्वत मानकर उन्हीं की पूजा व आराधना करते रहते हैं कि ये ही हमें सुख व आनन्द दे सकते हैं। इनके सिवा और कोई ऐसी वस्तु नहीं है जो हमें आनन्द दे सके। इस मिथ्या भ्रम में वे अपना सारा जीवन व्यतीत कर देते हैं व उन्हें हाथ कुछ भी नहीं आता है। इसी से वे इस संसारचक्र में बार-बार घूमते रहते हैं व जीवनमृत्यु के चक्कर में फँसे रहते हैं। वे अपने उन्नति के मर्म को समझ ही नहीं सकते तथा विभिन्न कर्मकाण्डों में उलझकर विभिन्न देवताओं की पूजा, आराधना करते रहते हैं कि ये देवगण हमें धन, सम्पत्ति, पुत्र, पुत्री, यश, कीर्ति आदि प्रदान करेंगे। ये जीवन के उच्च रहस्यों को जान ही नहीं सकते व घाणी के बैल की भाँति इसी के चारों ओर जन्मों जन्मों तक चक्कर लगाते रहते हैं। जीवन का

इससे अधिक और क्या दुरुपयोग हो सकता है। जिसे किसी उपयोगी वस्तु का ज्ञान नहीं है वही अनुपयोगी वस्तु को ग्रहण करने की जिज्ञासा करता है किन्तु उपयोगी वस्तु का ज्ञान होने पर वह बिना किसी संकोच के अनुपयोगी का त्याग कर देता है। अतः हे देवी! सर्वप्रथम उसे उपयोगी वस्तु का ज्ञान आवश्यक है। मैं उसी का तुम्हें उपदेश दे रहा हूँ।

हे देवी! इस भैरव के निष्कल (निराकार) व सकल (साकार) ये दो रूप शास्त्रों मे बताये गये हैं। इस समस्त जगत् में जो भी विभिन्न रूप दिखाई देते हैं वे ही इस भैरव का साकार स्वरूप हैं ये सब रूप इन्द्रजाल के समान माया से निर्मित गन्धर्व नगर के समान भ्रमपूर्ण हैं जिसे सत्य मान लेना ही मिथ्या धारणा है तथा ये सभी स्वप्न में देखी गई वस्तु के समान अस्थिर व असत्स्वरूप है अथवा इन्द्रजाल के समान भ्रमपूर्ण है इसलिए यह असार है किन्तु भ्रान्त बुद्धि वाले इसी को सत्य मानकर इसी की पूजा आराधना करते रहते हैं तथा इसी के द्वारा फल की आकांक्षा करते हैं कि ये देवगण ही हमें सभी प्रकार की सुख सुविधाएँ देंगे। इन्हीं सकाम कर्मों के कारण वे अपने वास्तविक स्वरूप से अपरिचित रहते हैं। किन्तु यह साकार की उपासना का उपदेश उन अज्ञानियों के लिए ही है जो अपने वास्तविक स्वरूप से अनभिज्ञ हैं। साकार उपासना का उपदेश इसलिए किया गया है कि इससे वे निराकार स्वरूप में प्रवेश पाने के लिए अपेक्षित योग्यताएँ प्राप्त कर सके। इससे व्यक्ति में ध्यान की योग्यताएँ प्राप्त होती हैं जिससे निराकार में प्रवेश का द्वार खुलता है किन्तु जो तत्त्वज्ञानी हैं जिन्हें निराकार स्वरूप में जाना है उनके लिए इस सकारोपासना की कोई आवश्यकता नहीं है। जिस प्रकार मृगमरीचिका में जल की भ्रान्ति हो जाती है, जिस प्रकार रज्जु को सर्प समझ लेते हैं, जिस प्रकार सीप में चाँदी की भ्रान्ति हो जाती है उसी प्रकार अज्ञानीजनों को इस साकार सृष्टि में ही सत्य होने की भ्रान्ति हो जाती है, जो मिथ्या धारणा है। जब तक किसी को सत्य का ज्ञान नहीं हो जाता तभी तक वह असत्य में ही रुचि लेता है। सत्य ज्ञान की प्राप्ति पर वह इस मिथ्या ज्ञान का इसी प्रकार त्याग कर देता है जैसे साँप अपनी केंचुली उताकर फेंक देता है अथवा व्यक्ति अपने गन्दे वस्त्रों का त्याग कर देता है। निराकार ज्ञान होने पर भी यदि साकार का त्याग नहीं हुआ तो वह साकार भी बन्धन बन जाता है जिसके त्याग के बिना मुक्ति नहीं हो सकती। भैरव के साकार स्वरूप का वर्णन अज्ञानीजनों को सद्मार्ग पर लाने के लिए ही शास्त्रों में उसका वर्णन किया गया है। उसके निष्कल (निराकार) स्वरूप का वर्णन नहीं हो सकता वह तो केवल बोध स्वरूप है जिसका ज्ञानमात्र होता है वह स्वानुभव का ही विषय है। यह सारा विश्व उसी का विलास मात्र है जो उसे किसी प्रकार भिन्न सत्ता वाला नहीं है। जब वही एक तत्त्व सर्वत्र व्याप्त है निराकार व साकार उसी एक के दो रूप मात्र हैं तो फिर कौन किसकी पूजा करे, कौन किसकी आराधना करे तथा कौन किस पर अनुग्रह करे। यह सब द्वैत में ही सम्भव है। अज्ञानी द्वैत को ही स्वीकार करता है अतः इन सारे कर्मकाण्डों का विधान उन्हीं को ध्यान में रखकर शास्त्रों में किया गया है अन्यथा जो ज्ञान को प्राप्त हो चुके हैं जिन्होंने निराकार के ज्ञान द्वारा अद्वैत को ही स्वीकार कर लिया है उनके लिए इन शास्त्रों व कर्मकाण्डों का कोई उपयोग ही नहीं रहता। ये कर्मकाण्ड आदि वे नौकाएँ हैं जिनके द्वारा नदी पार की जा सकती है किन्तु नदी पार हो जाने पर इन नौकाओं को छोड़ देना ही बुद्धिमानी है। वाहनों की आवश्यकता गन्तव्य तक पहुँचने के लिए होती है। गन्तव्य तक पहुँचने पर उनकी आवश्यकता ही नहीं रहती। अतः ये सब

शास्त्र व कर्मकाण्ड आदि वाहन स्वरूप ही हैं। निराकार में प्रविष्ट होने पर सभी कुछ त्याग देना ही श्रेयस्कर है।

तत्त्वतो च नवात्माऽसौ शब्दराशिर्न भैरवः ।
न वासौ त्रिशिरा देवो न च शक्तित्रयात्मकः ।।११।।
नादबिन्दुमयो वापि न चन्द्रार्धनिरोधिकाः ।
न चक्रक्रमसंभिन्नो न च शक्तिस्वरूपकः ।।१२।।

व्याख्या—पूर्व में श्लोक २-३-४ में भैरवीदेवी भगवान्शिव से पूछती है कि शास्त्रों में उस परमतत्त्व के कई रूप बताये गये हैं जिससे उसके वास्तविक स्वरूप का ज्ञान नहीं होता कि वह कैसा है? इसके लिये वह भगवान से आठ प्रश्न करती है जिसमें वे पूछती है कि उस परमतत्त्व का स्वरूप शब्द राशिमय है अर्थात् वह शब्द ब्रह्मस्वरूप है अथवा वह नवात्म रूप वाला है अर्थात् उस भैरव की वामा प्रभृति नौ शक्तियों के रूप में यह परमतत्त्व अवस्थित है अथवा वह त्रिशिर भैरव तन्त्र में निर्दिष्ट शिव शक्ति व जीव तथा इच्छा, ज्ञान व क्रिया रूप है अथवा वह परा, परापरा व अपरा नामक तीन शक्तियों वाला है अथवा वह नाद बिन्दु स्वरूप है अथवा अर्द्धचन्द्र निरोधिका उसका रूप है अथवा क्या वह मूलाधार आदि स्थानों में षट्दल आदि स्थानों वाले चक्रों में आरूढ़ है अर्थात् वह मूलाधार चक्र में स्थित कुण्डलिनी की आकृति का कोई तत्त्व है, अथवा क्या वह शक्ति के रूप में विद्यमान है आदि।

भगवान् शिव इन सब शंकाओं को नकार देते हैं तथा उसके वास्तविक स्वरूप को इन सबसे भिन्न बताते हुए कहते हैं कि वास्तव में यह भैरव न तो नवात्म रूप है अर्थात् न तो नवतत्त्व स्वरूप या वामादि नवशक्ति रूप है, न शब्दराशि रूप है, न त्रिशिर भैरव है, न शिव शक्ति स्वरूप है, न नादबिन्दु स्वरूप है, न अर्द्ध-चन्द्र निरोधिका आदि कलाएँ ही उसका स्वरूप है, वह न तो षट्चक्रों का भेदन करके ही जाना जाता है और न कुण्डलिनी आदि शक्ति को धारण करने वाला है। ये सभी स्वरूप उस बोधभैरव का प्रतिनिधित्व नहीं करते क्योंकि उसका स्वरूप तो अकथ्य है जिसका कथन शब्दों में नहीं किया जा सकता। वह अवर्णनीय है। उसको समझाने के लिए किसी न किसी कल्पना का सहारा लेना पड़ेगा। ऊपर वर्णित सभी रूप भी कल्पना के सहारे ही खड़े हैं। वह स्वतन्त्र स्वभाव वाला है। उसका न कोई कारण है, न कार्य। वह सभी उपमाओं से परे है। वह एक ही अद्वितीय है, अद्वय है। उससे भिन्न कुछ भी नहीं है। सभी कुछ उसी के विभिन्न रूपमात्र हैं। वह दृश्य भी नहीं है जिसे देखा जा सके। वह किसी प्रकार की कल्पना से भी परे है। वह केवल बोधस्वरूप है जिसे स्वानुभव से ही जाना जा सकता है। उसकी परोक्ष अनुभूति ही होती है। उसके होने से इन्कार भी नहीं किया जा सकता। वही एकमात्र चैतन्य स्वरूप है।

अप्रबुद्धमतीनां हि एता बालविभीषिकाः ।
मातृमोदकवत् सर्वे प्रवृत्त्यर्थमुदाहृतम् ।।१३।।

व्याख्या—यदि यह सब कल्पनामात्र है तो ऐसी कल्पना करने की क्या आवश्यकता थी? सीधे ही इसका कथन क्यों नहीं किया गया? इस मिथ्या कल्पना से और भ्रम पैदा हो गया कि इन दोनों साकार व निराकार में कौन सही है? साकार स्वरूप की तो प्रत्यक्ष अनुभूति होती है जिससे जीव इसी को सत्य मानने लगता है तथा निराकार में उसकी कोई

रुचि नहीं होती। वह प्रत्यक्ष को ही प्रमाण मानकर चलता है। वह साकार से ही प्रभावित होकर उसी में सुख मानकर उसी के भोग में आनन्द का अनुभव करने लगता है। वह मुक्ति की इच्छा ही क्यों करने लगा? इसी कारण यह सब भोगवादी प्रवृत्ति का बनता जा रहा है। वह स्वयं नरक, मुक्ति, मोक्ष के विषय में सोचता ही नहीं। यह निराकार का ज्ञान कुछ ही प्रबुद्ध व्यक्तियों के लिए है जिनको इस ज्ञान में किसी कारण से रुचि हो गई है अन्यथा इस ओर सामान्यजन की इसमें रुचि ही नहीं होती तथा इस उच्चज्ञान को वह ग्रहण कर ही नहीं सकता जिससे इसकी उपयोगिता पर ही प्रश्नचिन्ह लग जाता है।

किन्तु इसका दूसरा पक्ष भी ध्यान में रखना है कि हर कठिन वस्तु को प्राप्त करना मुश्किल ही होता है। आरम्भ में बच्चा विद्यालय जाने व पढ़ाई करने में भी आलस्य करता है। वह कई बहाने बनाता है किन्तु माता पिता को शिक्षा की उपयोगिता को देखकर उसे बहला-फुसलाकर तैयार करना पड़ता है उसे शिक्षा का महत्त्व समझाना पड़ता है। धीरे-धीरे जब उसकी रुचि जाग्रत हो जाती है तो वह उसके महत्त्व को समझने लग जाता है। इसी प्रकार भैरव कहते हैं कि जो अप्रबुद्धजन है, जिनकी बुद्धि का विकास नहीं हुआ है तो उन्हें छोटी-छोटी बातें बताकर उनको इसके लिए तैयार किया जाता है। ईश्वर कृपा भी सब पर नहीं होती। वह भी योग्य पात्र पर ही होती है जिसके लिए आरम्भ में प्रयत्न करना ही पड़ेगा। इसी के लिए शास्त्रों में उनके लिए कर्मकाण्डों का विधान किया गया है जिससे वे बुराईयों का त्यागकर सद्कर्म की ओर प्रवृत्त हो सके। इससे उसकी चित्त शुद्धि होती है तथा उच्चज्ञान प्राप्त करने की उसकी क्षमता का विकास होता है। इसके लिए उसे ईश्वर के कई रूपों में से किसी एक की उपासना के लिए कहा जाता है। यह उसकी बाल विभीषिका के रूप में विहित है। जिस प्रकार रोते हुए बालक को भूत का डर दिखाकर अथवा हौआ का भय दिखाकर उसे शान्त कर दिया जाता है तथा उसकी गलत जिद को छुड़ाने के लिए उसे झूठे प्रलोभन दिये जाते हैं तथा कड़वी दवा खिलाने के लिए उसे लड्डू या मिठाई देकर उसे खिलाई जाती है उसी प्रकार अप्रबुद्धजनों को भाँति-भाँति की सिद्धियों के साधन बताकर उन्हें आराधना में लगाया जाता है। फिर उन्हें क्रमशः परभैरव अवस्था तक पहुँचाया जाता है। अतः यह साकार की उपासना उन्हीं के लिए है जिसका शास्त्रों में विधान किया गया है।

दिक्कालकलनोन्मुक्ता देशोद्देशाविशेषिणी ।
व्यपदेष्टुमशक्याऽसावकथ्या परमार्थतः ।।१४।।
अन्तःस्वानुभवानन्दा विकल्पोन्मुक्तगोचरा ।
याऽवस्था भरिताकारा भैरवी भैरवात्मनः ।।१५।।
तद्वपुस्तत्त्वतो ज्ञेयं विमलं विश्वपूरणम् ।

व्याख्या—भगवान् भैरव ने सर्वप्रथम अपने सकल (साकार) स्वरूप का वर्णन किया तो भैरवी ने फिर पूछा कि यदि ऊपर जो आपने कहा है वह आपका साकार स्वरूप है तो फिर आपका निष्कल (निराकार) स्वरूप कैसा है? इसे बताने का कष्ट करें जिससे मेरा पराशक्ति सम्बन्धी संशय दूर हो सके? भैरवी के इसी संशय को दूर करने के लिए भैरव कहने लगे कि परभैरव की यह परावस्था ऐसी है जिसका कथन नहीं किया जा सकता। जिसका कोई रूप नहीं, कोई आकार नहीं उसको नाम कैसे दिया जाये? किसी वस्तु को नाम तो तभी दिया जा सकता है जब उसका कोई रूप हो, उसका कोई आकार हो, वह

कोई वस्तु जैसा हो किन्तु उसका ऐसा कोई रूप व आकार ही नहीं है तो उसके लिए क्या कहा जाये? वह किसी स्थान विशेष में भी नहीं है, न किसी दिशा विशेष में ही है जहाँ जाकर उसे ढूँढा जा सके, न वह किसी काल विशेष में ही है कि वह पहले था, इस समय है अथवा भविष्य में होने वाला है। इस प्रकार वह स्वरूप दिशा और काल की कल्पना से परे है। उसके लिए यह भी नहीं कहा जा सकता कि वह दूर किसी देश में स्थित है अथवा निकट ही है ऐसा भी नहीं कहा जा सकता। अतः उसकी किसी विशेषता का वर्णन नहीं किया जा सकता कि वह कौन है, कैसा है तथा कहाँ है आदि? उसे देश और काल की सीमाओं में नहीं बाँधा जा सकता। अतः उसके स्वरूप का वर्णन करना अति कठिन है। उसके स्वरूप का वाणी से कथन नहीं किया जा सकता, न उसके स्वरूप को किसी अन्य विधि से ही समझाया जा सकता है। जो वस्तु, दिशा, काल, देश, नाम, रूप वाली हो तो उसी का कथन सम्भव है किन्तु वह परातत्त्व ऐसा नहीं है, इन सबसे परिच्छिन्न न होने से इसका कथन नहीं हो सकता। इसका अनुभव तो पूर्णाहन्ता का विकास होने पर अपने भीतर अपने आप प्रकाशित हो रहे आनन्द के रूप में होता है। इसका यह स्वरूप सभी प्रकार की कल्पनाओं से, नाम, रूप, क्षणिकता आदि उपाधियों से रहित होने से निर्विकल्प एवं वास्तविक है। उसका दूसरा काई विकल्प ही नहीं है जिनसे इसकी उपमा दी जा सके। पूर्णस्वरूप बोधभैरव की यह अवस्था सारे विश्व में अहमाकार में सर्वत्र व्याप्त है। वस्तुतः यही विमल अर्थात् स्वात्मभित्ति में आभासित हो रहे जगत् के दोषों से असंयुक्त रहकर विश्व का पूरक अर्थात् सारे जगत् का प्रकाशक, निष्कल (निराकार) स्वरूप उस परावस्था को प्रकट करता है। इससे भिन्न इसकी कोई आकृति नहीं मानी जाती। यह विभेद स्वरूप है। जब इसमें भेद उत्पन्न हो जाते हैं तो इसी को सकला (साकार) कहा जाता है।

एवंविधे परे तत्त्वे कः पूज्यः कश्च तृप्यति ।।१६।।

व्याख्या—इस प्रकार यह निष्कल परभैरव ही स्वात्मस्वरूप है। इससे भिन्न किसी की भी सत्ता नहीं है। सभी कुछ वही है तो फिर कौन किसकी पूजा करे? यह भैरव ही अद्वैत स्वरूप है जो सर्वत्र वही है, पूजा, आराधना, तर्पण आदि जो भी किया जाता है वह द्वैत भाव से ही किया जाता है। अद्वैत में यह सम्भव नहीं है। अतः अज्ञानी लोग जो विभिन्न कर्मकाण्ड करते रहते हैं वे सब द्वैत भावना से ही किये जाते हैं जो आडम्बर मात्र हैं। जब तक व्यक्ति को इस पर भैरव की अवस्था का अनुभव नहीं हो जाता तभी तक वह व्यर्थ के कर्मकाण्डों को करता रहता है। निष्कल का अनुभव हो जाने पर इनकी कोई आवश्यकता नहीं रहती। यह परभैरव अवस्था ही स्वात्म स्वरूप है तथा वही पूजनीय है, अन्य कोई पूजनीय तत्त्व नहीं है। अन्य सभी उसी की विभिन्न अवस्थाएँ हैं अतः वह परमतत्त्व ही एकमात्र पूजनीय है, अन्य कोई नहीं।

एवंविधा भैरवस्य याऽवस्था परिगीयते ।
सा परा पररूपेणपरा देवी प्रकीर्तिता ।।१७।।

व्याख्या—ऊपर भैरव की जो परावस्था बताई गयी है वह भैरव से भिन्न नहीं है। यह उसकी निराकार (निष्कल) अवस्था है। जिस प्रकार वेदान्त ब्रह्म को निर्गुण स्वरूप कहता है तथा ईश्वर को सगुण ब्रह्म कहता है ठीक इसी प्रकार भगवान् शिव सगुण रूप से भैरव है तथा उनका यह निर्गुण निराकार स्वरूप ही परभैरव है। दोनों में कोई भेद नहीं है किन्तु

कुछ लोग सगुण व निर्गुण, साकार व निराकार में भी भेद करते हैं जबकि वह निराकार ही साकार रूप में अभिव्यक्त होता है। अभिव्यक्ति के पूर्व ही उसे निराकार कहा जाता है। साकार भैरव ही बोधस्वरूप है जबकि उसका निराकार स्वरूप बोध से भी परे है। इसी प्रकार उसकी यह शक्तियाँ उससे भिन्न नहीं हैं अतः उसी को परादेवी अथवा पराशक्ति कहा जाता है।

शक्तिशक्तिमतोर्यद्वदभेदः सर्वदा स्थितः ।
अतस्तद्धर्मधर्मित्वात् परा शक्तिः परात्मनः ।।१८।।

व्याख्या—भैरव ही वह परमतत्त्व है तथा परावस्था ही उसका स्वरूप है जो देश, काल आदि में परिच्छिन्न नहीं है, न कोई दशा विशेष ही है, तो भैरव को ही भैरवी कहा जायेगा? ऐसी शंका होने पर भैरव कहते हैं कि भैरव की वह परावस्था ही उसका स्वरूप है। यह परावस्था शक्तिरूप है तथा भैरव ही शक्तिमान है। शक्ति शक्तिमान से भिन्न नहीं होती वह उससे अभिन्न ही रहती है। शक्ति सामर्थ्य को कहते हैं। यह सारे जगत् का निर्माण करने वाले भैरव का ही स्वरूप है। शक्ति और शक्तिमान को अभेद माना गया है। यह शक्तिमान भैरव से सदा सम्बद्ध ही रहती है। भैरव के साथ रहने से उसमें भी सर्वज्ञता, सर्वकर्तृता अर्थात् कर्तापन तथा सर्वात्मता आदि धर्म विद्यमान रहते हैं। यह भैरव की धर्मिणी है जो सदा उस चिदानन्द घन भैरव से अभिन्न होने के कारण वही परा (भैरवी) कही जाती है। इसे और स्पष्ट किया जा सकता है कि भैरव चेतनस्वरूप है जो चेतन व आनन्दस्वरूप है इसलिए वही चिदानन्दघन कहा जाता है। अस्तित्व चेतनतत्त्व का है जो जीवन का आधार है। उसके बिना जीवन की कल्पना ही नहीं की जा सकती किन्तु वह चेतनतत्त्व क्रिया नहीं करता। सारी क्रियाएँ उसकी शक्ति से होती हैं। हो सकता है वह चेतन होते हुए भी कोई क्रिया न करे किन्तु क्रिया उसका स्वभाव है। वह बिना क्रिया के रह ही नहीं सकता। एक मनुष्य में चेतन तो है किन्तु वह क्रिया नहीं करे ऐसा हो सकता है किन्तु वह क्रिया तो करता है किन्तु उसमें चेतनता ही न हो ऐसा नहीं हो सकता। किसी व्यक्ति में से यदि यह चेतना निकल जाती है तो उसके साथ उसकी क्रिया शक्ति भी साथ ही निकल जाती है फिर वह शरीर कोई क्रिया नहीं कर सकता। एक चेतन प्राणी भाग-दौड़ करता है, युद्ध करता है, कोई निर्माण कार्य करता है। खेल-कूद करता है, कृषि करता है आदि सब उसकी शक्ति से करता है किन्तु चेतन के बिना वह कैसे कार्य कर सकता है? अतः स्पष्ट है कि शक्ति का सारा कार्य चेतन के बिना सम्भव ही नहीं है। इस सम्पूर्ण सृष्टि में जितने कार्य हुए हैं व हो रहे हैं वे सब चेतन की शक्ति से ही हो रहे हैं अतः शक्ति को चेतन से भिन्न नहीं माना जा सकता कि बिना चेतन के शक्ति अपने आप कोई कार्य कर सके। यह शक्ति उस परमचेतना का ही एक रूपमात्र है इसी कारण शिव को अर्द्धनारीश्वर कहा गया है अर्थात् वह चेतन व शक्ति का संयुक्त रूप है। वेदान्त व तन्त्र इसी को मान्यता देता है जो एक वैज्ञानिक सत्य है। केवल सांख्य दर्शन ही प्रकृति व पुरुष, जड़ व चेतन को दो भिन्न तत्त्व मानता है जो उसकी अपनी सोच है। यह सारी सृष्टि उस चेतन की शक्ति का ही विलास है।

आज विज्ञान इस चेतनशक्ति से अनभिज्ञ होने से वह केवल इस जड़शक्ति को ही मान्यता दे रहा है कि वही सब कुछ है किन्तु वह भूल जाता है कि वनस्पति, जीव जन्तु, पशु-पक्षी व मनुष्य आदि में जो भी क्रियाएँ हो रही हैं वे सब इसी चेतनशक्ति से हो रही है।

चेतन के बिना इनकी सब क्रियाएँ बन्द हो जाती हैं जिनको विज्ञान भौतिक शक्तियाँ कहता है उनका भी मूलस्वरूप चेतन ही है। विज्ञान अभी इस रहस्य को नहीं जान पाया है। हो सकता है आने वाले समय में उसे इसका ज्ञान हो जाये। केनोपनिषद् में एक उदाहरण द्वारा इसे स्पष्ट किया गया है कि वायु तथा अग्नि में भी जो उड़ाने व जलाने की शक्ति कार्य कर रही है वह भी चेतन के बिना निष्क्रिय हो जाती है। अतः यह श्लोक पूर्ण रूप से विज्ञान सम्मत है कि शक्ति को शक्तिमान से अलग नहीं किया जा सकता। बिना शक्तिमान के शक्ति किस आधार पर टिकी रह सकती है? अतः चेतनस्वरूप की उपेक्षा नहीं की जा सकती।

वेदान्त जिसे ब्रह्म कहता है वह जड़ व चेतनशक्ति का संयुक्त रूप है जिसमें जड़तत्त्व अनभिव्यक्त अवस्था में रहता है तथा चेतन तत्त्व शान्तावस्था में रहता है जिसमें कोई हलचल नहीं होती। तन्त्र इसी अवस्था को भगवान् भैरव की परा अवस्था कहता है तथा उसी की शक्ति उससे अभिन्न रूप में इसी परा अवस्था में रहती है जिसे पराभैरवी कहा गया है। यही परमतत्त्व है जो साकार रूप धारण करने पर वेदान्त में ईश्वर नाम से सम्बोधित किया जाता है जो चेतन तत्त्व है तथा उसी की मायाशक्ति उस चैतन्य का आवरण बन जाती है जिससे वह चैतन्य दृश्य नहीं हो सकता इसी प्रकार तन्त्र का परभैरव ही भैरव रूप बन जाता है जो चेतन भैरव व शक्ति भैरवी से सम्पन्न रहता है जो इसकी परापरा अर्थात् परा+अपरा अवस्था है। वही शक्ति अपरा अवस्था में सृष्टि की रचना करती है। वेदान्त इसी को मायाशक्ति की रचना कहता है तथा सांख्य इसी को प्रकृति की रचना कहता है तीनों शास्त्रों में केवल कथन की ही भिन्नता है अन्यथा तीनों एक ही तथ्य को प्रकट करते हैं।

न वह्नेर्दाहिका शक्तिर्व्यतिरिक्ता विभाव्यते ।
केवलं ज्ञानसत्तायां प्रारम्भोऽयं प्रवेशने ।।१९।।

व्याख्या—भगवान् भैरव का जो परस्वरूप है वह उसी की पराशक्ति से सम्पन्न है। वह परस्वरूप चैतन्य है जो ज्ञानस्वरूप अथवा बोधस्वरूप है। वह तत्त्व अति सूक्ष्म होने से किसी भी प्रकार से दृश्य नहीं है। वह स्वयं कोई क्रिया नहीं करता किन्तु क्रिया का माध्यम उसकी शक्ति है जो सभी प्रकार की क्रिया का कारण है। यह सम्पूर्ण दृश्यजगत् उसी की शक्ति का विलास है। भैरव अर्थात् शिव का अस्तित्व ही शक्ति के कारण है। बिना शक्ति के शिव भी शव रूप ही है। शिव को सीधा नहीं जाना जा सकता। शक्ति की सहायता से ही शिव की पहचान होती है। जिस प्रकार अग्नि की पहचान उसकी दाहिका शक्ति (जलाने की शक्ति) से होती है। यदि उसमें जलाने की शक्ति ही नहीं है तो उसे अग्नि कैसे कहा जा सकता है? जिस प्रकार अग्नि से उसकी दाहशक्ति भिन्न नहीं है, जिस प्रकार सूर्य से उसका प्रकाश भिन्न नहीं है जिस प्रकार चन्द्रमा से उसकी चाँदनी भिन्न नहीं है, जिस प्रकार चीनी से उसका मिठास भिन्न नहीं है उसी प्रकार शिव से उसकी शक्ति भिन्न नहीं है। शक्ति के बिना अकेला शिव सृष्टि की रचना नहीं कर सकता तथा अकेली शक्ति भी बिना चेतन (शिव) के सृष्टि की रचना नहीं कर सकती। अतः यह शक्ति उसका उपकरण है जिसकी सहायता से वह सृष्टि रचना करता है। जिस प्रकार एक इंजीनियर बिना ईंट, चूने, पत्थर, सीमेन्ट के भवन का निर्माण नहीं कर सकता दोनों का ही होना आवश्यक है इसी प्रकार शिव व शक्ति दोनों की उपस्थिति से ही सृष्टि रचना सम्भव है

किन्तु इसमें मुख्य भूमिका शक्ति की ही है। यह शक्ति ही शिव के वास्तविक स्वरूप को पहचानने का माध्यम है। उस परभैरव का ज्ञान उसकी शक्ति के माध्यम से ही हो सकता। अतः यह शक्ति ही उसमें प्रवेश करने का माध्यम है। जहाँ चेतना है वहाँ शक्ति विद्यमान रहती ही है तथा जहाँ शक्ति है वहाँ चेतना है ही। दोनों अभिन्न हैं जिससे दोनों की उपस्थिति ही सृष्टि रचना का कारण बनती है। अकेला तत्त्व शक्तिहीन है। शक्ति से ही शक्तिमान की पहचान होती है इसलिए अधिकांश साधक शक्ति की ही पूजा आराधना करते हैं। जिस प्रकार मनुष्य में चेतना विद्यमान है तभी तक वह अपनी शक्ति का प्रयोग कर सकता है तथा चेतना के निकल जाने पर यह शरीर शक्तिहीन हो जाता है। आज विज्ञान केवल शक्ति पर ही अपना ध्यान केन्द्रित किये हुए है तथा इस चेतनतत्त्व से अनभिज्ञ है जिससे विज्ञान के अपेक्षित परिणाम नहीं आ रहे हैं। चेतन का ज्ञान ही अध्यात्म का विषय है। इसके बिना विज्ञान अधूरा है। अधूरा ज्ञान कभी जीवन का आधार नहीं बन सकता। ईशावास्य उपनिषद् में कहा है—

> "जो असम्भूति की उपासना करते हैं वे घोर अन्धकार में प्रवेश करते हैं और जो सम्भूति में रत हैं वे मानो उससे भी अधिक अन्धकार में प्रवेश करते हैं।"

(सूत्र १२)

यह सारी सृष्टि शक्ति का ही रूप है किन्तु इसको जानने वाला तथा इसका उपयोग करने वाला तो वह चेतन जीव ही है शक्ति व चेतना को अलग नहीं किया जा सकता। अतः शक्ति की उपासना से ही शिव की उपासना हो जाती है दोनों की अलग-अलग उपासना नहीं करनी पड़ती। वेदान्त की मायाशक्ति फिर भी उस चैतन्य से भिन्न मानी गयी है जो उस चैतन्य का आवरण बनजाती है जिससे वह चैतन्य प्रत्यक्ष नहीं होता किन्तु तन्त्र इसे उस चैतन्य ईश्वर का तिरोधान कार्य मानता है उससे भिन्न तत्त्व नहीं मानता। ईशावास्य उपनिषद् के सूत्र (१४) में कहा गया है—

> "जो असम्भूति और कार्य ब्रह्म इन दोनों को साथ-साथ जानता है वह कार्य ब्रह्म की उपासना से मृत्यु को पार करके असम्भूति के द्वारा अमरत्त्व प्राप्त कर लेता है।"

अतः दोनों की ही उपासना का एक ही फल होता है। वेदान्त की माया भी ईश्वर के साथ रहने वाली है।

शक्त्यवस्था प्रविष्टस्य निर्विभागेन भावना ।
तदासौ शिवरूपी स्यात् शैवी मुखमिहोच्यते ।।२०।।

व्याख्या—भगवान् भैरव का जो साकार स्वरूप है वही उसकी शक्ति का स्वरूप है। जो दृश्य है जिसका ज्ञान अज्ञानीजनों को होता है तथा चैतन्यस्वरूप शिव का ज्ञान उसे न होने से वह शिव व शक्ति दोनों को भिन्न मानकर शक्ति की ही उपासना करता है, उसी के माध्यम से वह शिवतत्त्व को प्राप्त करना चाहता है। इसके लिये कई उपाय बताये गये हैं जिनके द्वारा जब वह जीव पराशक्ति स्वरूप अवस्था में पहुँच जाता है तभी उसे शिवतत्त्व की अनुभूति होती है इससे पूर्व वह दोनों में भेद ही मानता रहता है कि शिव और शक्ति दो भिन्न तत्त्व हैं किन्तु जब वह पराशक्ति तक पहुँच जाता है तभी वह शक्ति शिव के साथ एकाकार हो जाती है तथा उसी अवस्था में इन दोनों का भेद मिट जाता है, दोनों एकाकार

हो जाते हैं। इससे पूर्व उसे शिवतत्त्व का ज्ञान नहीं होता। जब दोनों में भेद दृष्टि समाप्त हो जाती है तभी वह अपने को शिवस्वरूप ही समझने लग जाता है। इससे पूर्व वह शिव से भिन्न अपने को जीव ही मानता रहता है। अतः तन्त्र शास्त्रों का कहना है कि शिव की यह शैवी शक्ति ही शिव के उस परम सुन्दर चैतन्य स्वरूप में प्रवेश पाने का द्वार है। उस चैतन्य स्वरूप शिव को सीधा प्राप्त नहीं किया जा सकता अतः शाक्त मत में शक्ति की ही उपासना पर बल दिया गया है। इसका एक उदाहरण यह है कि जिस प्रकार किसी व्यक्ति की पहचान उसका मुँह देखने से ही होती है उसी प्रकार शक्ति के परास्वरूप को जानकर ही उसके माध्यम से ही शिव को पहचाना जाता है तथा उसी अवस्था में शिव व शक्ति का भेद मिट जाता है। तभी जीव शिवत्व रूप हो जाता है। शक्ति के बिना शिव के नाम, रूप, स्थान, आदि की कल्पना ही नहीं की जा सकती। वामकेश्वर तन्त्र में कहा गया है—

"शक्त्या बिना शिवे सूक्ष्मे नाम धाम न विद्यते ।"

इसी स्थिति में शक्ति शिव में विलीन हो जाती है तभी साधक को शिव-शक्ति की अभिन्नता ज्ञात होती है। इसी अवस्था को बोध दशा कहा जाता है, यही उसकी भैरवदशा है जो विज्ञान स्वरूप है। वेदान्त इसी अवस्था को प्राप्त होने पर ही वह जीव 'अहं ब्रह्मास्मि' की घोषणा करता है जो गुरु के **तत्त्वमसि** उपदेश से ही प्राप्त होती है। इससे पूर्व अपने को ब्रह्म कहने का कोई औचित्य नहीं है। शैव उपासक इसी को **शिवोऽहम्** कहते हैं।

यथाऽऽलोकेन दीपस्य किरणैर्भास्करस्य चे ।
ज्ञायते दिग्विभागादि तद्वच्छक्त्या शिवः प्रिये ।।२१।।

व्याख्या—इस श्लोक में शिव और शक्ति की अभिन्नता का एक और उदाहरण द्वारा स्पष्ट किया गया है कि हे प्रिये! जिस प्रकार सूर्य से उसकी किरण भिन्न नहीं है तथा दीपक से उसका प्रकाश भिन्न नहीं है उसी प्रकार शिव से उसकी शक्ति भिन्न नहीं है यह उसी का प्रकाश है। जिस प्रकार सूर्य के प्रकाश से ही सभी दिशाओं का ज्ञान होता है तभी सभी वस्तुएँ देखी जाती हैं उसी प्रकार शक्ति की सहायता से ही शिव की पहचान होती है तथा इस जागतिक प्रपंच का ज्ञान भी शक्ति की ही सहायता से होता है। जिस प्रकार दीपक को देखने के लिए किसी दूसरे दीपक की आवश्यकता नहीं होती तथा सूर्य को देखने के लिए किसी दूसरे सूर्य की आवश्यकता नहीं रहती किन्तु अपनी ही लौ और अपनी ही किरणों से ये भासित होते हैं उसी प्रकार इसी शक्ति की ही सहायता से शिव के स्वरूप की पहचान हो जाती है कि इस शक्ति का स्रोत यही शिव है तथा यही निज का स्वरूप है।

मनुष्य में जो आत्मा है वही चैतन्य स्वरूप है तथा यह शरीर उसी की शक्ति का रूप है। उस चैतन्य स्वरूप आत्मा को शक्ति रूपी शरीर के माध्यम से ही जाना जाता है। यदि शरीर ही न हो तो उस आत्मा को जानने का और कोई माध्यम नहीं रहता। इस सम्पूर्ण सृष्टि के ज्ञान का कारण केवल आत्मचेतना ही है किन्तु उसका ज्ञान तो शरीर के ही माध्यम से होता है। अतः शक्ति ही उस शिव को जानने का एकमात्र उपकरण है।

यहाँ प्रश्न पैदा होता है कि यह शक्ति तो जड़ है, इसका स्रोत क्या है? यह किसकी शक्ति है? यदि शक्ति है तो वह शक्तिमान् कौन है जिसकी यह शक्ति है? वह शक्तिमान् तो चैतन्य स्वरूप ही हो सकता क्योंकि शक्ति अपने आप बिना चैतन्य के सृष्टि रचना अपने बल बूते पर नहीं कर सकती। इस परमतत्त्व को चैतन्य स्वरूप मानकर ही इसको जानने

की जिज्ञासा से ही अध्यात्म विद्या का विकास हुआ। वैज्ञानिकों की भाँति इसे स्वीकार नहीं किया गया कि सब कुछ प्रकृति की ही रचना है जिसमें चैतन्य को कोई स्थान नहीं है। अध्यात्म विद्या सब कुछ चैतन्य की ही रचना मानता है व यह प्रकृति व शक्ति उसका उपकरण मात्र है जिसकी सहायता से वह रचना करता है। कोई भी रचना चैतन्य के बिना सम्भव नहीं है अतः चैतन्य ही वह परमतत्त्व है जिसकी खोज अध्यात्म जगत् में ही हुई है। इसमें सांख्य, वेदान्त व तन्त्र शास्त्र की ही महत्त्वपूर्ण भूमिका रही है। यह इस देश का दुर्भाग्य ही कहना चाहिए कि आज का जनसमुदाय इस अध्यात्म ज्ञान की उपेक्षा कर विज्ञान की ओर अधिक आकर्षित हो रहा है। विज्ञान का एकांगी ज्ञान देश का दुर्भाग्य ही बनेगा। वह जीवन में सुख सुविधा तो दे सकता है किन्तु इससे उच्च जीवन नहीं मिल सकता। विज्ञान की चकाचौंध में अध्यात्म की उपेक्षा करना जीवन का अभिशाप ही सिद्ध होगा।

जिस प्रकार वृक्ष के बीज में पूरा वृक्ष समाया रहता है उसी प्रकार शिवरूपी चैतन्यतत्त्व में सारी सृष्टि समाहित रहती है। वही बीज जिस प्रकार अपने ही भीतर से पूरा वृक्ष निकाल देता है जिस प्रकार एक ही शुक्राणु अपने भीतर से पूरा शरीर निकाल देता है उसी प्रकार से शिव ही अपने भीतर से पूरी सृष्टि की रचना कर देता है। जिस प्रकार बीज को अंकुरित होने के लिए मिट्टी खाद पानी आदि सहकारी कारणों की आवश्यकता होती है वैसी किसी सहकारी कारण की उसको आवश्यकता नहीं होती। स्वेच्छा से ही उसमें स्पन्दन होने लगता है जिससे वह जगत्‌रूप में परिणत हो जाता है। इसी कार्य को तन्त्र में 'स्फुरता' कहा तथा वेदान्त इसी को 'संकल्प' कहता, है कि सृष्टि ईश्वर की संकल्पशक्ति का परिणाम है।

।। श्री भैरवी उवाच ।।

देवदेव त्रिशूलाङ्क कपालकृतभूषण ।
दिग्देशकालशून्या च व्यपदेशविवर्जिता ।।२२।।
याऽवस्था भरिताकारा भैरवस्योपलभ्यते ।
कैरुपायैर्मुखं तस्यै परा देवी कथं भवेत् ।।
यथा सम्यगहं वेद्मि तथा मे ब्रूहि भैरव ।।२३।।

व्याख्या—यह भैरवी उसी शिव की पराशक्ति है जो अपने अपरास्वरूप से सृष्टि की रचना करती है किन्तु उसका जो परा स्वरूप है जो शिव से अभिन्न है उसका विस्मरण कर चुकी है कि मैं किसी की अर्द्धांगिनी हूँ। वह सृष्टि रचना के कार्य में ही व्यस्त रहने लगी। उसने शिव द्वारा रचित कई तन्त्र ग्रन्थों को पढ़ा तथा भगवान् शिव से भी सुना है किन्तु उनमें भिन्नता होने से उसे संशय हुआ कि सभी ग्रन्थ भिन्न-भिन्न रूप बताते हैं तो वह जानना चाहती है कि इस सबमें आपका वास्तविक स्वरूप क्या है? इसको लेकर वह भगवान् शिव से कई प्रश्न पूछती है जिससे शिव उन सबको नकारते हुए अपना वास्तविक स्वरूप बताते हैं जिससे उसकी जिज्ञासा बढ़ गई तथा वह अपने ही परस्वरूप को जानने की इच्छा करने लगी जो शिव से अभिन्न है जिससे वह शिवावस्था में प्रवेश कर सके व उससे एकाकार हो जाये। वह उन उपायों को जानना चाहती है।

वह पूछती है—हे देवादि देव, सभी देवताओं के स्वामी, हे त्रिशुलांक, इच्छा, ज्ञान और क्रियारूपी तीनों शक्तियों के फलक वाले त्रिशूल को धारण करने वाले, हे कपालकृत

भूषण, हे खप्परधारी भैरव, दिशा देश, काल से रहित, नाम रूप से रहित जिसका वर्णन दिक्काल इत्यादि के द्वारा पहले भी किया जा चुका है, वह परादेवी कैसे जानी जाती है और किन उपायों से वह शिवास्थान में प्रवेश का द्वार बन सकती है? उसका दर्शन किन उपायों से किया जा सकता है? इस बात को आप विस्तार से समझाइये। अर्थात् जिन उपायों का सहारा लेकर मैं परादेवी और बोध (विज्ञान) भैरव के स्वरूप को ठीक से समझ सकूँ, उनको आप विस्तार से मुझे बताइये।

सार यह है कि यह भैरवी स्वयं भगवान भैरव की ही शक्ति है जो अपनी अपरा प्रकृति द्वारा सृष्टि की रचना तो करती है किन्तु वह अपने स्वामी भैरव की ही सहचरी शक्ति है इससे वह स्वयं अनभिज्ञ है। वह परारूप से भैरव की ही शक्ति है किन्तु अज्ञानवश वह अपने को एक भिन्न शक्ति मान बैठी है। कई शास्त्रों के अध्ययन से उसे इसका अहसास हो गया कि वह भगवान् भैरव का ही रूप है जो उससे अभिन्न है इसको वह प्रत्यक्ष करना चाहती है जिससे उसका संदेह दूर हो जाये।

इसके अनुनय विनय को सुनकर भगवान् भैरव ने उसे अपने परमतत्त्व चैतन्य को जानने के लिए ११२ धारणाओं का वर्णन किया जिससे उसके चैतन्यस्वरूप को जाना जा सके। यह चैतन्यतत्त्व अति सूक्ष्म होने से सामान्य रूप से नहीं जाना जा सकता किन्तु भारत ने इसके जानने की अनेक विधियों की खोज की है जिनमें पतंजलि की क्रियायोग की विधि है, हठयोग की विधि है, सांख्ययोग की विधि है तथा अन्य भी कई विधियाँ हैं। बुद्ध ने भी अपनी अलग विधि पर कार्य किया है किन्तु वेदान्त व तन्त्र की विधि 'अनुपाय' अथवा अक्रिया की विधि है जिसे 'सहज योग' कहा जाता है। इसमें क्रिया को बन्धन स्वरूप माना गया है जिसमें अहंकार बढ़ता है कि 'मैं कर रहा हूँ'। यह अहंकार ही ज्ञान प्राप्ति में बाधा बन जाता है। तन्त्र का मार्ग अक्रिया का, अनुपाय का है। यह समर्पण का मार्ग है। जैसा है सब स्वीकार है, कोई शिकायत नहीं, अच्छे-बुरे का भेद नहीं। सीधा मन पर नियन्त्रण करना है। इसके लिए भगवान् भैरव ने भैरवी को ११२ ऐसी ध्यान की विधियाँ बताई जिसका हर व्यक्ति आसानी से प्रयोग करके शिवरूप को प्राप्त हो सकता है। शिव के इसी चैतन्य स्वरूप को जानकर ही जीव इस जन्म-मृत्यु के चक्र से मुक्त होकर परमानन्द की अवस्था मोक्ष को प्राप्त हो सकता है। इन विधियों का वर्णन आगे किया जा रहा है।

विज्ञान भैरव

(११२ धारणाओं का वर्णन)

(धारणा-१)

।। श्री भैरव उवाच ।।

भैरवी स्वयं भगवान् शिव की शक्ति है जो स्वयं शिव से अभिन्न होते हुए भी वह शिव के वास्तविक स्वरूप से अनभिज्ञ है। वह उस स्वरूप को जानने के लिए आठ प्रश्न पूछती है कि इन सबमें आपका वास्तविक स्वरूप क्या है? यह बताइये। भगवान् शिव इन सभी को नकारते हुए उसे अपने वास्तविक स्वरूप का वर्णन करते हैं तो भैरवी उन उपायों को जानना चाहती है जिससे वह शिवावस्था में प्रवेश करके उनसे एकाकार हो जाये। वह शिव से अभिन्न होते हुए भी अपने परास्वरूप को न जान पाने के कारण अपने को उनसे भिन्न अनुभव करती है। वह अपनी अपराप्रकृति से सृष्टि की रचना तो करती है किन्तु अपनी ही पराप्रकृति से अनभिज्ञ है जो शिव से भिन्न नहीं है। भगवान् शिव उसे इसका बोध कराने के लिए ११२ धारणाओं का उपदेश करते हैं जिससे वह शिव के साथ एकाकार हो सके।

भगवान् भैरव उसे कहते हैं—

ऊर्ध्वे प्राणो ह्यधो जीवो विसर्गात्मा परोच्चरेत् ।
उत्पत्तिद्वितयस्थाने भरणाद् भरिता स्थितिः ।।२४।।

व्याख्या—सृष्टि का परमतत्त्व चैतन्य है। वेदान्त उसे ईश्वर कहता है, सांख्य दर्शन उसे पुरुष कहता है तथा तन्त्र शास्त्र उसे शिव कहता है। यह सृष्टि उसी चैतन्य तत्त्व की शक्ति है जिसे वेदान्त मायाशक्ति कहता है, सांख्य इसी को प्रकृति कहता है तथा तन्त्र शास्त्र इसे भैरवी कहता है तथा शिव को भैरव भी कहा गया है। यह भैरवी शक्ति अपनी परावस्था में शिव से अभिन्न रहती है, एकाकार रहती है किन्तु अपनी अपरावस्था में यही सृष्टि की रचना करती है। शरीरों में यही शक्ति प्राणों के रूप में सभी जीवधारियों में विद्यमान रहकर उन्हें जीवन प्रदान करती है। प्राणों की इसी शक्ति से सभी जीवधारी प्राणी जीवन प्राप्त करते हैं तथाा प्राणों के निकल जाने पर वे मृत घोषित कर दिये जाते हैं। अतः जीवन का आधार यही प्राण शक्ति है। यह प्राणशक्ति चेतनतत्त्व शिव की ही शक्ति है किन्तु चेतनतत्त्व केवल ज्ञानस्वरूप है। वह क्रिया नहीं करता। सभी क्रियाएँ उसकी शक्ति से ही होती हैं।

शरीर में यही प्राण शक्ति श्वास प्रश्वास के रूप में कार्य करती है। योग शास्त्रों मे इसी को रेचक पूरक व कुम्भक कहा जाता है। इस श्लोक में कहा गया है कि श्वासप्रश्वास की यह क्रिया इस परादेवी का ही स्पन्दन है। यह क्रिया हृदय से आरम्भ होकर ऊपर द्वादशान्त तक अर्थात् नासिका से बाहर निकलकर बारह अंगुल दूर तक जाती है तो इसे

प्राण कहा जाता है तथा द्वादशान्त से भीतर हृदय तक आने वाले श्वास को जीव नामक अपान कहा जाता है। यह परादेवी निरन्तर इसका स्पन्दन करती रहती है। यह परादेवी विसर्ग स्वभाव वाली है। यही आन्तर व बाह्य भावों की सृष्टि करती है। शरीर में अथवा सृष्टि में जो भी स्पन्दन है, हलचल है वह सब इसी शक्ति के कारण है तथा जहाँ कोई स्पन्दन नहीं है कोई हलचल नहीं है ऐसी शान्त अवस्था ही चैतन्यस्वरूप शिव का स्थान है। जब प्राणतत्त्व बाहर निकलता है और अपान का आरम्भ नहीं होता है तो इन दोनों के बीच में थोड़ा सा अवकाश रहता है। यही शिव का स्थान है जहाँ काई हलचल नहीं होती। इस पर ध्यान को केन्द्रित करने पर यह अवकाश लम्बा हो जाता है और इसी में उस चैतन्यस्वरूप शिव की अनुभूति होती है। इसी प्रकार जब हृदय में अपान वायु का अन्त होकर प्राण वायु का उदय होने के मध्य जो अवकाश है उसका ध्यान करने से योगी की भैरवस्वरूप शिव की अभिव्यक्ति हो जाती है। प्राणवृत्ति का अन्दर आना व बाहर जाना इसका स्वाभाविक कार्य है जो इस पराशक्ति का ही स्पन्दन है। द्वादशान्त तथा हृदय में ध्यान करने से सभी तरह की उपाधियों का विस्मरण हो जाता है तथा मैं ही भैरव हूँ इस प्रकार की अनुभूति हो जाती है यही शून्य स्थान है।

(धारणा-२)

मरुतोऽन्तर्वहिर्वाऽपि वियद्युग्मानि वर्तनात् ।
भैरव्या भैरवस्येत्थं भैरवि व्यज्यते वपुः ।।२५।।

व्याख्या—इस श्लोक में भगवान् भैरव इस मध्य स्थिति का वर्णन करते हुए भैरवी से कहते हैं कि हे भैरवी! इस प्राण और अपान का आधारभूत स्थान आन्तर आकाश हृदय तथ्य बाह्य आकाश द्वादशान्त इन दोनों स्थानों से यह पवन पुनः लौटता है। इसके पुनः लौटने से पूर्व एक क्षण के लिए वह रुकता है। इस स्थिति को द्वादशान्त कहा जाता है। इस समय उसकी वृत्ति अन्तर्मुख हो जाती है। उस समय ऐसा अनुभव होता है कि प्राण और अपान कहीं विलीन हो गये हैं। इस स्थिति को योग शास्त्रों में 'कुम्भक' कहा गया है तथा तन्त्र इसे मध्यदशा कहते हैं। यह मध्यदशा एक क्षण के लिए ही होती है किन्तु अभ्यास द्वारा जब इस स्थिति का विकास किया जाता है तो भगवान् भैरव का स्वरूप प्रकाशित हो जाता है जो पराशक्ति भैरवी से अभिन्न रूप से विद्यमान रहते हैं। धर्म और धर्मी जिस प्रकार अभिन्न है उसी प्रकार शिव और उसकी शक्ति अथवा भैरव और भैरवी अभिन्न है। इसको अलग नहीं किया जा सकता। वे परमार्थ रूप में एक ही है किन्तु इनमें भेद ज्ञात होता है। जब प्राण और अपान दोनों का चलना न हो तभी इस 'मध्य दशा' का अनुभव किया जा सकता है।

योग शास्त्र के अनुसार हृदय स्थित कमल कोश से प्राण का उदय होकर नासिका मार्ग से निकलकर बारह अंगुल चलकर अन्त में आकाश में विलीन हो जाता है। प्राण की इस बाह्य गति को 'रेचक' कहा जाता है तथा इस बाह्य आकाश से अपान का उदय होता है तथा नासिका मार्ग से चलकर यह हृदय स्थित कमलकोश में विलीन हो जाता है। अपान की इस स्वाभाविक आन्तर गति को पूरक कहा जाता है। जब द्वादशान्त में तथा अपान वायु हृदय में क्षणभर के लिए रुक जाती है उसे योग शास्त्रों में 'कुम्भक' कहा जाता है। यह कुम्भक अवस्था दो तरह की होती है—बाह्य कुम्भक तथा आन्तर कुम्भक। जब यह श्वास चलते-चलते मध्य में ही किसी कारण से रुक जाती है तो उसे 'मध्य

कुम्भक’ कहते हैं। इन सभी रेचक, कुम्भक तथा पूरक अवस्थाओं का निरन्तर ध्यानपूर्वक निरीक्षण करते रहने से योगी जीवन-मृत्यु से मुक्त हो जाता है।

पातंजल योग दर्शन[१] में प्राणायाम की विधियाँ बताई गयी हैं किन्तु उसमें कहा गया है कि आसन की सिद्धि होने पर श्वास प्रश्वास की गति का रुक जाना ही प्राणायाम है। यह अपने आप होता है। हठयोग में विभिन्न प्रकार के प्राणायामों का वर्णन है। योगवाशिष्ठ[२] में भी प्राणों के निरोध के उपाय बताये गये हैं। इस प्रकार प्राणों का निरोध होने पर ही ईश्वरानूभूति होती है किन्तु तन्त्र की विधि सहज योग की विधि है जिससे प्राणों की गति को रोकना नहीं है बल्कि जो स्वाभाविक रूप से चल रही है उसे देखते रहना मात्र है। इसी से प्राणों का स्पन्दन रुक जाता है व साधक ध्यान में प्रवेश कर जाता है। इस ध्यान की स्थिति में ही साधक को शिवानुभूति हो जाती है।

(धारणा-३)

न व्रजेन्न विशेच्छक्तिर्मरुद्रूपा विकासिते ।
निर्विकल्पतया मध्ये तया भैरवरूपता ।।२६।।

व्याख्या—भैरवीशक्ति के कारण शरीर में प्राण व अपान की क्रिया निरन्तर चलती रहती है किन्तु प्राण के लीन होने व अपान के उदय होने के मध्य थोड़े समय के लिए यह प्राण रुकता है जिसे मध्य दशा कहते हैं। इसी प्रकार अपान के हृदय में लीन होने व प्राणों के उदय होने के मध्य यह अपान थोड़े समय रुकता है जिसे आन्तर मध्य दशा कहते हैं। यही वे स्थान है जहाँ शक्ति का कोई स्पन्दन नहीं होता। इस शान्त अवस्था में ही भैरवस्वरूप चेतनशक्ति का अनुभव होता है। यह मध्य दशा आरम्भ में थोड़े समय के लिए ही होती है एक क्षण के लिए; किन्तु योगाभ्यास द्वारा इसे बढ़ाया जा सकता है। जब यह मध्य दशा इतनी बढ़ जाती है कि वायुरूप यह प्राणात्मक और अपानात्मक शक्ति न तो हृदय से द्वादशान्त तक जाती है और न द्वादशान्त से हृदय तक वापस लौटती है तो इस अवस्था में पहुँचा योगी बाह्य पदार्थों को तथा आन्तरिक भावों को अर्थात् समस्त विकल्पों को ध्यानरूपी अग्नि में भस्म कर देता है। वह अपने समस्त इन्द्रियसमूह को आलम्बन के अभाव में अपने स्वरूप में विस्तीर्ण कर देता है। उस समय ऐसी प्रतीति होती है जैसे ये इन्द्रियाँ अपने अद्भुत स्वरूप को आँखें फाड़कर देख रही हों। यह उसकी निर्विकल्प अवस्था है जिसमें प्रवेश करने पर साधक स्वयं भैरव स्वरूप हो जाता है अर्थात् अपने वास्तविक स्वरूप आत्मा का उसे ज्ञान हो जाता है। इस समय प्राण और अपान का स्पन्दन बहुत कम हो जाता है। यही समाधि दशा है।

(धारणा-४)

कुम्भिता रेचिता वापि पूरिता वा यदा भवेत् ।
तदन्ते शान्तनामासौ शक्त्या शान्तः प्रकाशते ।।२७।।

व्याख्या—भगवान शिव की यह शक्ति शरीर में श्वास-प्रश्वास के रूप में सदा चलती रहती है जिसे ‘रेचक’ व ‘पूरक’ कहा जाता है। रेचक में यह हृदयकमल से बाहर की ओर चलती रहती है जिसे प्राण कहा गया है। यह प्राण थोड़े समय बाहर रुककर फिर भीतर की ओर चलने लगता है जिसे अपान कहा गया है। प्राण के लीन होने और अपान के उदय होने के मध्य जो थोड़ा सा समय लगता है उसे मध्य दशा कहा गया है। योगशास्त्र में इसी को कुम्भक कहते हैं। इस दशा को बाह्य कुम्भक कहा जाता है। इसी प्रकार हृदय

कमल में जब अपान लीन होता है तथा प्राण का उदय होता है उसके बीच में जो मध्य दशा होती है उसे आन्तर कुम्भक कहा जाता है। योगाभ्यास द्वारा इन दोनों प्रकार के कुम्भकों के समय को बढ़ाया जाता है। इस अवस्था में प्राण व अपान की गति नहीं होती। इस शान्त अवस्था में ही शक्ति का कोई कार्य नहीं रहता जिससे वह शान्त अवस्था में विलीन हो जाती है जिससे चैतन्य व शक्ति का भेद ही मिट जाता है। दोनों एक हो जाते हैं। इसी अवस्था में एक प्रकाश मात्र अवस्था का उदय हो जाता है। जिसका कोई नाम, रूप आदि नहीं होता। वही स्वात्म स्वरूप है जिसका ज्ञान हो जाता है। जब तक वह शक्ति प्राण और अपान के रूप में सक्रिय रहती है तब तक उस चेतनतत्त्व का ज्ञान नहीं होता। जब सभी विचार बन्द हो जाते हैं तो उस शान्त अवस्था को ही समाधि कहा जाता है। यही शून्यता की स्थिति है इसी में आत्मानुभव होता है।

(धारणा-५)

आमूलात् किरणभासां सूक्ष्मात्सूक्ष्मतरात्मिकाम् ।
चिन्तयेत् तां द्विषट्कान्ते शाम्यन्तीं भैरवोदयः ।।२८।।

व्याख्या—यह शक्ति हृदय से चलकर द्वादशान्त तक चलने में सूक्ष्म से सूक्ष्मतर होती जाती है। इसी प्रकार यह मूलाधार से चलकर सहस्रार तक जाते-जाते सूक्ष्म से सूक्ष्मतर होती जाती है जो सूर्य एवं चन्द्रमा की किरणों के समान प्रकाशित है जिस प्रकार यह प्राण द्वादशान्त में जाकर शान्त हो जाता है उसी प्रकार सहस्रार में जाकर यह उस चैतन्य स्वरूप में विलीन हो जाता है। इस स्थिति का चिन्तन करते रहने से योगी को उस चैतन्य भैरव का ज्ञान हो जाने पर वह स्वयं भैरव (शिव) स्वरूप हो जाता है कि मैं ही भैरव हूँ।

(धारणा-६)

उद्गच्छन्तीं तडिद्रूपां प्रतिचक्रं क्रमात्क्रमम् ।
ऊर्ध्वं मुष्टित्रयं यावत् तावदन्ते महोदयः ।।२९।।

व्याख्या—यह शक्ति विद्युत स्वरूप है जो बिजली के समान चमकने वाली है। यह शक्ति मूलाधार से चलकर सुषुम्ना मार्ग से चलती हुई षटचक्रों का भेदन करती हुई ब्रह्मरन्ध्र तक पहुँचती है। इसका इसी प्रकार चिन्तन करे कि यह शक्ति ऊपर की ओर उठ रही है। इस प्रकार का चिन्तन करने से यह शक्ति द्वादशान्त से ऊपर उठकर परम चैतन्यस्वरूप महाभैरव को प्राप्त हो जाती है, उसका स्वरूप प्रकाशित हो जाता है।

(धारणा-७)

क्रमद्वादशकं सम्यग् द्वादशाक्षरभेदितम् ।
स्थूलसूक्ष्मपरस्थित्या मुक्त्वा मुक्त्वाऽन्ततः शिवः ।।३०।।

व्याख्या—शरीर में बारह चक्र माने गये हैं जो बारह स्थानों के नाम से प्रसिद्ध हैं। ये बारह स्थान हैं—जन्माग्र, मूल, कन्द, नाभि, हृदय, कण्ठ, तालु, भ्रूमध्य, ललाट, ब्रह्मरन्ध्र, शक्ति तथा व्यापिनी। ये क्रमशः एक दूसरे से ऊर्ध्व स्थान में स्थित है। इन चक्रों व स्थानों और स्वरूप को समझकर उनमें अकार से लेकर विसर्ग तक बारह स्वरों का ध्यान करना चाहिए। वैसे स्वर सोलह हैं। कहा जाता है स्वर सोलह, व्यंजन छत्तीस किन्तु इन सोलह में ऋ, ॠ, ऌ, ॡ को नपुंसक कहा जाता है जिनका कहीं उपयोग ही नहीं होता। अतः इनको छोड़ने पर अ से लेकर अः तक स्वरों की संख्या बारह ही होती है। ध्यान में इन नपुंसक स्वरों का उपयोग नहीं किया जाता। अतः ध्यान करते समय इन बारह चक्रों में इन बारह

स्वरों का ध्यान करना चाहिए। ध्यान में योगी स्थूल वस्तु का त्याग करते हुए सूक्ष्म की ओर बढ़ता जाता है तथा अन्त में सूक्ष्म का भी त्याग कर पर अवस्था में प्रविष्ट हो जाता है, जो ज्योतिर्मय है। इसमें प्रवेश करने के बाद वह स्वयं स्वात्मस्वरूप ही हो जाता है अर्थात् स्वयं शिवरूप ही हो जाता है।

(धारणा-८)

तयाऽऽपूर्याशु मूर्धान्तं भङ्क्त्वा भ्रूक्षेपसेतुना ।
निर्विकल्पं मनः कृत्वा सर्वोर्ध्वे सर्वगोद्गमः ।।३१।।

व्याख्या—पूर्व में बताये गये इन बारह स्थानों का ध्यान करते रहने से यह प्राणशक्ति क्रमशः ऊर्ध्व गमन करती रहती है। निरन्तर अभ्यास से यह शक्ति क्रमशः सभी चक्रों का भेदन करती हुई भ्रूमध्य में स्वाभाविक रूप से पहुँच जाती है किन्तु भ्रूमध्य में जाकर यह रुक जाती है। यहाँ तक पहुँचने की अवस्था सविकल्प अवस्था है जिसमें शिव और शक्ति का भेद बना रहता है। भूमध्य में पहुँचने पर वह वहीं पर रुक जाती है। उसे आगे ब्रह्मरन्ध्र तक पहुँचाने के लिए गुरु की सहायता की आवश्यकता होती है। गुरु द्वारा दिये गये उपदेश से ही वह इस सेतु को पार कर आगे ब्रह्मरन्ध्र तक जा सकती है। जिससे मन को निर्विकल्प, निश्चल, स्थिर अवस्था तक पहुँचाया जा सकता है। जब योगी इस अवस्था में पहुँच जाता है तो उसमें सर्वव्यापकता का उद्गम हो जाता है अर्थात् उसमें भेद की प्रतीति समाप्त होकर सभी में वह अपना ही स्वरूप देखने लग जाता है कि सब कुछ मेरा ही स्वरूप है अथवा सब कुछ मैं ही हूँ। मेरे से भिन्न किसी की सत्ता नहीं है। यही उसकी परभैरव की अवस्था है। यही अद्वैत की अवस्था है। इससे पूर्व शिव व शक्ति, जड़ व चेतन, जीव व ईश्वर का भेद बना रहता है जो अज्ञान की अवस्था है। ज्ञान होने पर द्वैत भाव ही समाप्त हो जाता है।

(धारणा-९)

शिखि पक्षैश्चित्ररूपैर्मण्डलैः शून्यपञ्चकम् ।
ध्यायतोऽनुत्तरे शून्ये प्रवेशो हृदये भवेत् ।।३२।।

व्याख्या—जिस प्रकार मयूर के पंखों में चित्र विचित्र चन्द्रकों में पाँच शून्य दिखाई देते हैं। जिनकी स्थिति ऊपर, नीचे, मध्य तथा दोनों पार्श्वों में होती है उसी प्रकार योगी को पाँचों इन्द्रियों द्वारा जो पाँच प्रकार का ज्ञान है वह पाँच विषयों का है। ये शब्द, स्पर्श, रूप, रस व गन्ध ही ये पाँच विषय हैं जिनको ये पाँचों इन्द्रियाँ ग्रहण करती हैं। इन विषयों को योगी यदि वास्तविक न समझकर शून्य स्वरूप मान लेता है कि ये मन की कल्पना मात्र है तो योगी शून्यरूप परम आकाश में प्रवेश कर जाता है। उसका अभिप्राय यह है कि योगी को यह चित्र विचित्र जगत् नाना प्रकार के रूप व रंगों से इन्द्रियों के द्वारा जैसा भासित हो रहा है वह वास्तव में यह आभास शून्यस्वरूप है जो मात्र मन की कल्पना से भासित हो रहा है वास्तव में ऐसा है नहीं। यह मन की ही एक वृत्ति है जो संसार को जैसा देखना चाहे उसे वैसा ही दिखाई देने लगता है। किसी को वह स्वर्ग से भी सुन्दर दिखाई देता है तो कबीर को झाड़ और झाँकर ही दिखाई दिया। वे कहते हैं—

"यह संसार झाड़ और झाँकर उलझि उलझि मरि जाना है।"

फिर कहते हैं—"यह संसार कागज की पुड़िया बूँद पड़े गलि जाना है।" एक को यह सुख भोग का साधन दिखाई देता है तो बुद्ध व महावीर को यह दुःखरूप ही दिखाई दिया।

यह सब मन की कल्पना है। मन कभी सत्य को नहीं जान सकता। यह सब मन की कल्पना का व्यापार है। ऐसी कल्पना करने पर ही परमार्थ की प्राप्ति हो जाती है वह परमाकाश में लीन हो जाता है। यही उसकी मोक्ष की अवस्था है जिससे वह मृत्यु के पार हो जाता है।

(धारणा-१०)

ईदृशेन क्रमेणैव यत्र कुत्रापि चिन्तना ।
शून्ये कुडये परे पात्रे स्वयंलीना वरप्रदा ।।३३।।

व्याख्या—जिस प्रकार पूर्व में गुदाधार जन्म कन्द, नाभि, हृदय, कण्ठ, तालु, भ्रूमध्य, ललाट, ब्रह्मरन्ध्र शक्ति और व्यापिनी में ध्यान करने को कहा गया था कि इनमें सीढ़ियों की भाँति क्रमशः एक-एक को छोड़ते व दूसरे को पकड़ते हुए क्रम से ध्यान करना चाहिए उसी क्रम से अपने शरीर के सिवाय दूसरे के शरीर में भी इसी प्रकार ध्यान करना चाहिए अथवा अन्यत्र भी जैसे आकाश, दीवार, कोई पात्र अथवा परपात्र में इसी चिन्तन की प्रक्रिया में आरोहण की पद्धति से दृढ़तापूर्वक अभ्यास करने से साधक की स्मृति स्वयं विलीन होकर वरदात्री बन जाती है अर्थात् परम प्रकाश के उदय के रूप में उत्कृष्ट वस्तु देने वाली बन जाती है। यही धारणा उस परम तत्त्व तक पहुँचने की सीढ़ी बन जाती है। यह ध्यान साधना आरम्भ में स्थूल वस्तु से आरम्भ की जाती है तथा क्रम से सूक्ष्म से करते हुए बढ़ते जाना चाहिए अन्त में वह स्वयं शिवरूप हो जाता है। जब वह स्वयं को शिवरूप अर्थात् चैतन्यस्वरूप मानने लग जाता है तो उसे यह सम्पूर्ण सृष्टि उसी चैतन्यरूप शिव से अभिन्न ज्ञात होने लगती है जिससे शिव और शक्ति की भिन्नता का भाव ही समाप्त हो जाता है तथा सृष्टि को अपना ही स्वरूप मानने लग जाता है। यह अद्वैत की अनुभूति ही जीवन का अन्तिम लक्ष्य है जिसे प्राप्त करने से ही जीवन को सफल माना जा सकता है। सभी भ्रम मिट जाते हैं।

(धारणा-११)

कपालान्तर्मनो न्यस्य तिष्ठन्मीलितलोचनः ।
क्रमेण मनसो दार्ढ्याल्लक्षयेल्लक्ष्यमुत्तमम् ।।३४।।

व्याख्या—कपाल के भीतर विद्यमान एक छिद्र में एक स्वयं प्रकाश प्रभाकर ज्योति विद्यमान है। उस ज्योति कर आलम्बन लेकर इसमें अपने मन को स्थिर करे। इसी में धारणा, ध्यान में समाधि का अभ्यास करे। आँख मूँदकर इस क्रिया को निरन्तर करता रहे जिससे योगी के मन में दृढ़ता का संचार होता है जिससे वह उस उत्तम लक्ष्य को प्राप्त कर लेता है। पातंजल योग दर्शन के सूत्र ३/३२ में इसका वर्णन है कि इस कपाल ज्योति में संयम करने से सिद्ध महात्माओं के दर्शन होते हैं। (ये सिद्ध महात्मा कौन हैं? क्या करते हैं? तथा संसार के प्राणियों की किस प्रकार सहायता करते हैं? इसका विस्तृत वर्णन श्री दशोरा ने अपने पातंजल योग सूत्र में विस्तार से किया है।) यह ज्योति ही शिव व शक्ति स्वरूप है जिसका योगी प्रत्यक्ष दर्शन करता है जिससे उसकी भेद दृष्टि समाप्त हो जाती है तथा वह दूसरों को अपने से अभेद स्वरूप मानने लग जाता है।

(धारणा-१२)

मध्यनाड़ी मध्यसंस्था विससूत्राभरूपया ।
ध्याताऽन्तर्व्योमया देव्या तया देवः प्रकाशते ।।३५।।

व्याख्या—मनुष्य के शरीर में नाड़ियों का एक ऐसा जाल है जिनमें होकर शरीर की यह प्राणऊर्जा शरीर के विभिन्न अंगों को पहुँचती है जिससे ये अंग सक्रिय रहते हैं। जब इस ऊर्जा प्रवाह में कमी आती है अथवा रुकावट आती है तो उससे सम्बन्धित अंग कार्य करना बन्द कर देते हैं जो उसकी बीमारी का कारण बनते हैं। यह ऊर्जा आत्मा की ही ऊर्जा है जिसका मुख्य केन्द्र नाभि है यहीं से मनुष्य को जीवन मिलता है। इन नाड़ियों का जाल विभिन्न शक्ति केन्द्रों तथा उपकेन्द्रों द्वारा फैला हुआ है। नाभि के बाद छः मुख्य केन्द्र हैं जिनको हठयोग में षट्चक्र कहा गया है। ये शक्ति के बड़े केन्द्र हैं। इसके बाद लगभग सात सौ छोटे-छोटे केन्द्र हैं जिनसे यह ऊर्जा प्रवाहित होती है। एक्यूप्रेशर व एक्यूपंक्चर की चिकित्सा पद्धति इन्हीं केन्द्रों के उपचार पर आधारित है।

(यह वर्णन नन्दलाल दशोरा के पातंजल योग सूत्र विभूति पाद के सूत्र ३१ में कूर्मनाड़ी के सन्दर्भ में किया है।)

इस प्रकार पतंजलि ने विभिन्न नाड़ियों में संयम करने से विभिन्न सिद्धियों के प्राप्त होने की बात कही है। (योग दर्शन-विभूतिपाद)

इस श्लोक में सुषुम्ना नाम वाली मध्य नाड़ी में संयम करने के विषय में कहा गया है कि नाड़ी यह हृदय के मध्य में रहती है। यह कमल नाल में विद्यमान अत्यन्त सूक्ष्म तन्तुओं के समान कृश आकार वाली है। इस नाड़ी में संयम करने से साधक के हृदय में प्रकाशात्मक भगवान शिव प्रकाशित हो जाते हैं। इस नाड़ी में चिदाकाशरूप शून्य का निवास है जिससे प्राण शक्ति निकलती है। इस शक्ति की सहायता से शिव स्वरूप प्रकाश का प्रादुर्भाव होता है। इसमें ध्यान करने से परभैरव प्रकाशित हो जाते हैं। यही अपना वास्तविक स्वरूप है जिससे कई सिद्धियाँ भी प्राप्त हो जाती हैं। इन सिद्धियों के चक्कर में नहीं पड़ने पर वह शिवस्वरूप ही हो जाता है।

(धारणा-१३)

कररुद्धदृगस्त्रेण भ्रूभेदाद् द्वाररोधनात् ।
दृष्टे बिन्दौ क्रमाल्लीने तन्मध्ये परमा स्थितिः ।।३६।।

व्याख्या—पूर्व में बताया गया है कि यह प्राण शक्ति ध्यान क्रिया से भ्रूमध्य तक तो पहुँच जाती है किन्तु वहाँ एक ऐसी ग्रन्थि है जो इसे रोक देती है। इस ग्रन्थि से प्राण शक्ति को ऊपर उठाने के लिए योग अपने इन्द्रिय रूपी हथियारों को ही काम में लेता है। इसमें योगी अपनी उँगलियों व अंगूठे से आँख, कान आदि द्वारों को रोक देता है जिससे यह प्राण शक्ति बाहर न निकल सके। इस क्रिया से योगी को भ्रूमध्य में प्रकाश बिन्दु का दर्शन होने लगता है। इस बिन्दु में मन को एकाग्र करने से वह बिन्दु विलीन हो जाता है तथा बोध स्वरूप प्रकाश अवस्था में उसकी स्थिति हो जाती है अर्थात् उसका पर भैरवस्वरूप अभिव्यक्त हो जाता है।

(धारणा-१४)

धामान्तःक्षोभसंभूतसूक्ष्माग्नितिलकाकृतिम् ।
बिन्दुं शिखान्ते हृदये लयान्ते ध्यायतो लयः ।।३७।।

व्याख्या—पूर्व श्लोक के अनुसार जब नेत्र को जोर से दबाया जाता है तो उसमें सूक्ष्म अग्नि कणों जैसी आकृतियाँ चमक उठती हैं। ये आकृतियाँ आँखों के तेज से निकली किरणें ही हैं। उनमें से किसी एक बिन्दु को पकड़कर ऊर्ध्व द्वादशान्त अथवा

हृदय में उसका ध्यान करना चाहिए। इस प्रक्रिया में दीपक को भी लिया जा सकता है। दीपक जब बुझने लगता है तो चटकने के साथ उसमें से चिनगारियाँ निकलने लगती हैं। इनमें से भी किसी एक बिन्दु को पकड़कर भी ध्यान का अभ्यास किया जा सकता है। इसकी सहायता से योगी के सब जागतिक विकल्प शान्त हो जाते हैं अर्थात् यह अनुभव हो जाता है कि यह सारा प्रपंच मुझसे भिन्न नहीं है। इस अवस्था में योगी उस परम तेज में विलीन हो जाता है।

(धारणा-१५)

अनाहते पात्रकर्णेऽभग्नशब्दे सरिद्द्रुते ।
शब्दब्रह्मणि निष्णातः परंब्रह्माधिगच्छति ।।३८।।

व्याख्या—संसार में जो भी ध्वनि सुनाई देती है वह दो वस्तुओं के टकराने से ही पैदा होती है जिसे आहत ध्वनि कहते हैं किन्तु एक ध्वनि ऐसी भी है जो अनाहत है अर्थात् बिना किसी वस्तु के टकराने से ही अपने आप पैदा होती है। इस ध्वनि को योगी लोग गहन ध्यान की अवस्था में सुनते हैं। यह एक ऐसी ध्वनि है जो निरन्तर शरीर के भीतर चलती रहती है। इस ध्वनि को कानों से नहीं सुना जा सकता। कानों से तो बाहर की आहत ध्वनि ही सुनी जा सकती है किन्तु गहरे ध्यान की अवस्था में जब बाहर की ध्वनि सुनाई देना बन्द हो जाता है तो इस भीतर की ध्वनि को सुना जा सकता है। जिस प्रकार नदी का जल निरन्तर चलता रहता है इसी प्रकार शरीर के भीतर दश प्रकार का यह अनाहत नाद निरन्तर दिन-रात स्वाभाविक रूप से बिना रुकावट के चलता रहता है। इस ध्वनि को सुनने के लिए भी इन श्रवणेन्द्रियों को ही पात्र अर्थात् समर्थ बनाया जाता है किन्तु इस ध्वनि को सुनने के लिए गहरे ध्यान में प्रवेश करना होता है यह नाद ही शब्दब्रह्म का रूप है। यह दस प्रकार का होता है जो आहत नाद से सर्वथा भिन्न प्रकार का होता है। इस नाद में धारणा, ध्यान, समाधि का अभ्यास करने से योगी शब्दब्रह्म के स्वरूप को भली भांति समझ लेता है। शब्दब्रह्म के स्वरूप को समझ लेने पर साधक अनायास ही परब्रह्म को प्राप्त कर लेता है। आज वैज्ञानिक इसकी भिन्न व्याख्या करते हुए कहते हैं कि यह आकाश गंगा व इसके चारों ओर जो सूर्य आदि तीव्र गति से चक्कर लगा रहे हैं उन्हीं के कारण यह सूक्ष्म ध्वनि उत्पन्न होती है वही भीतर सुनाई देती है।

(धारणा-१६)

प्रणवादिसम्रुच्चारात् प्लुतान्ते शून्यभावनात् ।
शून्यया परया शक्त्या शून्यतामेति भैरवि ।।३९।।

व्याख्या—इस सृष्टि का मूलतत्त्व एक ही है जो चैतन्य स्वरूप है जिसे ब्रह्म, ईश्वर, परमात्मा, आत्मा आदि नाम दे दिये गये हैं किन्त वह निराकार स्वरूप है जिसका न तो कोई आकार है न उसका कोई रूप, रंग आदि है जिससे उसका कोई नाम हो ही नहीं सकता। पतंजलि ने अपने योग दर्शन (१/२७) में कहा है "तस्य वाचकः प्रणवः" अर्थात् उस ईश्वर का यदि कोई नाम हो सकता है तो वह प्रणव अर्थात् ओंकार ही है। यह ओंकार (ॐ) भी कोई अक्षर नहीं बल्कि एक ध्वनि है जो योगी को समाधि अवस्था में सुनाई देती है। इससे भिन्न योगी को किसी ईश्वर के दर्शन नहीं होते अतः इसी ओंकार को ही ईश्वर का वास्तविक नाम दिया गया है। इस ओंकार के भी कई रूप हैं अथवा भेद हैं जैसे ॐकार वेद का प्रणव है तन्त्र में इसी को हूं कार अथवा ॐह्री कार आदि कहा जाता है। इसका

उच्चारण भी ह्रस्व, दीर्घ तथा प्लुत भेद से तीन प्रकार का होता है पहले धीमा, फिर तेज और बाद में अधिक तेज। उस प्लुत स्वर के बाद साधक उसमें शून्य की भावना करे। इस शून्य की भावना से साधक पराशक्ति में प्रविष्ट हो जाता है। भगवान् शिव कहते हैं कि हे भैरवी! यह शून्यता ही पराशक्ति का बोध कराती है।

(धारणा-१७)

यस्य कस्यापि वर्णस्य पूर्वान्तावनुभावयेत् ।
शून्यया शून्यभूतोऽसौ शून्याकारः पुमान् भवेत् ।।४०।।

व्याख्या—केवल प्रणव का ही नहीं अपितु वर्णमाला में विद्यमान जिस किसी के भी वर्ण की पूर्व और अपर अवस्था का अर्थात् उच्चारण करने की इच्छा तथा उसकी विराम अवस्था का शून्य से अनुगत रूप से ध्यान करे अर्थात् इन दोनों स्थितियों में वर्ण शून्य स्वभाव ही है इस तरह की भावना करने से साधक शून्यशक्ति के माध्यम से शून्यस्वरूप, शून्याकार होकर शून्य में विलीन हो जाता है। इस अवस्था में यह सारा जगत् शून्यरूप ही दिखाई देने लगता है तथा वह इसे गन्धर्व नगर के समान मिथ्या समझने लगता है तथा इससे ऊपर वह परब्रह्म ही समझने लगता है।

(धारणा-१८)

तन्त्र्यादिवाद्यशब्देषु दीर्घेषु क्रमसंस्थितेः ।
अनन्यचेताः प्रत्यन्ते परव्योमवपुर्भवेत् ।।४१।।

व्याख्या—तन्तु वाद्य आदि विभिन्न वाद्य यन्त्रों से आरोह अवरोह के साथ जो ध्वनि निकलती है वह अपनी क्रमिकता के आधार पर दीर्घकाल तक कानों में गूँजती रहती है उसी में अपने चित्त की वृत्ति को डाल देता है तो उसी से चित्त की एकाग्रता परमाकाश स्वरूप हो जाती है अर्थात् इन वाद्यों से पैदा हुए स्वरों में लय, सम, ताल आदि से मन लगाकर एकाग्रतापूर्वक अभ्यास कर उसके साथ अपनी चित्त वृत्ति को लीन कर देने वाला साधक परम व्योमशरीर हो जाता है अर्थात् परब्रह्म दशा में समाविष्ट हो जाता है। अतः संगीत शास्त्र में प्रवीण व्यक्ति अनायास ही मोक्ष प्राप्त कर लेता है।

(धारणा-१९)

पिण्डमन्त्रस्य सर्वस्य स्थूलवर्णक्रमेण तु ।
अर्धेन्दुबिन्दुनादान्त शून्योच्चाराद् भवेच्छिवः ।।४२।।

व्याख्या—प्रणव आदि पिण्ड मन्त्र कहलाते हैं क्योंकि इनमें पृथक पृथक अनेक वर्णों की स्थिति रहती है और अन्त में प्रायः एक संयोजक स्वर रहता है। इस प्रकार इन स्थूल वर्णों का उच्चारण करने के बाद अर्द्धेन्दु, बिन्दु, नादान्त आदि सूक्ष्म से सूक्ष्मतर वर्णों के उच्चारण का शून्य अवस्था तक अनुसन्धान किया जाता है। जैसे प्रणवात्मक पिण्ड मन्त्र में अकार, उकार, मकार इन स्थूल वर्णों के उच्चारण करने के बाद, अर्द्धचन्द्र, बिन्दु आदि वर्णों की सूक्ष्म स्थितियाँ मानी जाती हैं, अनुसन्धान करते-करते शून्यावस्था में पहुँचकर साधक स्वयं शिव बन जाता है। 'सीऽहं' यह भी प्रणव का ही स्वरूप है। इसमें से सकार और हकार रूप हल् का लोप हो जाने पर ॐ यह स्वरूप रह जाता है। इस प्रणव का यह 'सोऽहं' स्वरूप अजपा से गर्भित होकर हृदय में बहुत ही स्पष्ट रूप से ध्वनित होता रहता है। अर्थात् दिन रात बिना रुके निरन्तर चलती रहने वाली श्वास-प्रश्वास प्रक्रिया में ध्वनित होता रहता है। यह ओंकार प्रत्येक प्राणों के हृदय में अनाहत नाद के

रूप में ध्वनित होता रहता है। हम इसी तेज की उपासना करते हैं।

(धारणा-२०)

निजदेहे सर्वदिक्कं युगपद् भावयेद् वियत् ।
निर्विकल्पमनास्तस्य वियत् सर्वं प्रवर्तते ।।४३।।

व्याख्या—सृष्टि में यह प्रकाशमय परमतत्त्व एक ही है अन्य सभी उसी के विभिन्न स्वरूप हैं जिनकी उस परमतत्त्व से भिन्न किसी की भी स्वतन्त्र सत्ता नहीं है। वही एक अनेक रूपों में अभिव्यक्त हुआ है। वह परमतत्त्व शून्य स्वरूप है किन्तु संसार में सभी पदार्थों को भिन्न-भिन्न माना जाता है। इसका कारण मनुष्य के विचार ही हैं। ये विचार भी दो प्रकार के हैं—एक शुद्ध तथा दूसरे मायावी। शुद्ध विचार में आत्मा को ही अपना स्वरूप माना जाता है जो संसार में लिप्त नहीं होता किन्तु अशुद्ध विचार में शरीर, मन, बुद्धि आदि को ही अपना स्वरूप माना जाता है। शुद्ध विचार में सभी आत्मस्वरूप होने से कोई भी वस्तु त्याज्य नहीं होती। सांसारिक पदार्थों का अस्तित्व भी इस परम चेतन से ही है जिससे वे उससे अभिन्न हैं, उसके विरोधी नहीं हैं किन्तु संसार में यह भिन्नता ज्ञात होती है कि सभी पदार्थ भिन्न-भिन्न हैं। साधक का लक्ष्य उस एक ही परमतत्त्व शिव की ओर होना चाहिए कि सभी कुछ वही है उससे भिन्न किसी की सत्ता नहीं है। साधक को इन विकल्प वाली दशाओं का त्याग कर निर्विकल्प दशा में स्थित हो जाना चाहिए। यही प्रकाशमय स्वात्मस्वरूप है। यह सारा दृश्य प्रपंच सीपी में चाँदी की भ्रान्ति के समान असत्स्वरूप है। इस प्रकार की भावना करने से यह सारा दृश्य प्रपंच शून्यवत् ज्ञात होने लगता है तथा साधक उस परमतत्त्व में समाविष्ट हो जाता है।

(धारणा-२१)

पृष्ठशून्यं मूलशून्यं युगपद् भावयेच्च यः ।
युगपन्निर्विकल्पत्वान्निर्विकल्पोदयस्ततः ।।४४।।

व्याख्या—जो साधक आगे, पीछे, दाँये, बाँये आदि सभी जगह एक साथ शून्य की भावना करता है कि सभी कुछ शून्यस्वरूप ही है किसी की भी परमार्थ में कोई सत्ता नहीं है, वही एकमात्र परम तत्त्व शिव ही सर्वत्र व्याप्त है तो इस निर्विकल्प भावना के अभ्यास से उसके हृदय में किसी भी समय एकाएक उस निर्विकल्व शिव स्वभाव की अभिव्यक्ति हो जाती है, वह शिवस्वरूप ही हो जाता है। भिन्नता की सारी प्रतीति अज्ञान के कारण ही होती है। जब तक सत्य वस्तु का ज्ञान नहीं हो जाता तब तक असत्य को ही सत्य मानने की भ्रान्ति बनी ही रहती है। इसी कारण जिन्हें उस परमतत्त्व की अनुभूति नहीं हुई है वे ही इस मिथ्या जगत् को सत्य मान लेते हैं। ज्ञान होने पर ही इस मिथ्यात्व की भावना का ज्ञान होता है। ज्ञान की साधना ही जीवन को उच्चता देती है। ज्ञान की ही सर्वत्र महिमा है।

(ज्ञान की महिमा पर भी नन्दलाल दशोरा की एक पुस्तक भी प्रकाशित हुई है—आत्मज्ञान की विधियाँ)

(धारणा-२२)

तनूदेशे शून्यतैव क्षणमात्रं विभावयेत् ।
निर्विकल्प निर्विकल्पो निर्विकल्पस्वरूपभाक् ।।४५।।

व्याख्या—साधक को इस स्थूल शरीर में जैसा पूर्व में बताया गया है निर्विकल्प स्वरूप की भावना करे कि यह शरीर आत्मा ही है आत्मा के सिवा इस शरीर का कोई

अस्तित्व नहीं है। आत्मा ही इसका वास्तविक स्वरूप है ऐसी भावना करने पर वह आत्मस्वरूप ही हो जाता है। भिन्नता की प्रतीति ही मिट जाती है कि यह शरीर आत्मा से कोई भिन्न वस्तु है। इस प्रकार वह जान लेता है कि यह सब कुछ शिव का विलासमात्र है। इससे भिन्न यहाँ कुछ भी सत् नहीं है। यह सारा जगत् चित् का अर्थात् चैतन्य का विलासमात्र है जो गन्धर्व नगर के समान भ्रान्ति से ही सत् जैसा भासता है वस्तुतः मिथ्या ही है। इस भावना का विकास होने पर साधक अपने ही स्वरूप में प्रतिष्ठित हो जाता है।

(धारणा-२३)

सर्वं देहगतं द्रव्यं वियद्व्याप्तं मृगेक्षणे ।
विभावयेत् ततस्तस्य भावना सा स्थिरा भवेत् ।।४६।।

व्याख्या—शिवजी यहाँ भैरवी से कहते हैं कि हे मृगेक्षणे! जिसके हृदय में पूर्व में बताये गये उपायों से शून्यता की भावना न आ सके उसे चाहिये कि वह अपने शरीर में स्थित सभी धातुओं अस्थि, मांस आदि की शुन्य रूप में भावना करे कि वे सब शून्यरूप ही है। मेरे इस शरीर में शून्य आकाश के सिवा कुछ भी सत्य नहीं है। शरीर की यह हेय वासना है कि शरीर ही मेरा वास्तविक स्वरूप है इसका त्याग कर उपादेय वासना का विस्तार करे कि यह शरीर नहीं आत्मा ही सब कुछ है जो शिवस्वरूप ही है। इस भावना से हृदय में प्रकाश का आविर्भाव हो जाता है। इस भावना से सारा जगत् रज्जु में सर्प की भाँति मिथ्या ज्ञात होने लगता है जो केवल कल्पना मात्र है। इस भावना से साधक का हृदय प्रकाश में आलोकित हो जाता है।

(धारणा-२४)

देहान्तरे त्वग्विभागं भित्तिभूतं विचिन्तयेत् ।
न किञ्चिदन्तरे तस्य ध्यायन्न ध्येयभाग् भवेत् ।।४७।।

व्याख्या—अपने शरीर में त्वचा का जो ऊपरी भाग है उसमें भित्ति (दीवार) के समान जड़रूप की कल्पना करे। इस त्वचा के भीतर जो कुछ है उसमें कोई सारतत्त्व नहीं है ऐसा ध्यान करते-करते साधक को उस परतत्त्व का साक्षात्कार हो जाता है जो साररूप है। यह शरीर पंचभूतों—पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश के पंचीकरण होने से उत्पन्न हुआ है जो नाशवान् है तथा हाथी के कान की तरह अति चंचल है। यह किसी एक स्थान पर स्थिर नहीं रह सकता। इसी के साथ ये दिशाएँ भी काल्पनिक हैं जिनका कोई आधार ही नहीं है। ये निर्जीव हैं। केवल वह चैतन्य आत्मा ही सत्स्वरूप है। इस सत्य को जो व्यक्ति ठीक से जान लेता है वही ज्ञानी कहा जाता है। वह तन्मात्रा, मन, बुद्धि एवं अहंकार को ही अपना स्वरूप मान बैठा था ये भाव ही शान्त हो जाते हैं। यही आत्मानुभव की स्थिति है।

(धारणा-२५)

हृद्याकाशे निलीनाक्षः पद्मसंपुटमध्यगः ।
अनन्यचेताः सुभगे परं सौभाग्यमाप्नुयात् ।।४८।।

व्याख्या—भगवान् भैरव यहाँ फिर भैरवी है कि हे शुभगे! हृदयरूपी आकाश में अर्थात प्राण अपान के मध्यवर्ती स्थान सुषुम्ना की मध्य नाड़ी में जिसका बाह्य और आन्तर इन्द्रिय समूह लीन हो जाता है और जो ऊर्ध्व और अधः स्थान में विद्यमान पद्म के सम्पुट के मध्य में भावना के बल से प्रविष्ट हो गया है अर्थात् जो चिन्मात्र में स्थित हो गया

है अर्थात् अपने स्वरूप में स्थित हो गया है तथा अन्य किसी वस्तु में जिसका चित्त संलग्न नहीं है वह योगी परमानन्द के विकसित हो जाने से अत्यन्त स्पृहणीय अवस्था को प्राप्त कर लेता है।

(धारणा-२६)

सर्वतः स्वशरीरस्य द्वादशान्ते मनोलयात् ।
दृढबुद्धेर्दृढीभूतं तत्त्वलक्ष्यं प्रवर्तते ।।४९।।

व्याख्या—अपने शरीर के भीतर जब यह चैतन्य स्वरूपी देवता प्रविष्ट हो जाता है तो इस शरीर स्थित द्वादशान्त में यह मन एकाग्र होने से उसमें प्रविष्ट हो जाता है अर्थात् सुषुम्ना में प्रविष्ट हो जाता है उस समय मन की सभी वासनाओं का अन्त हो जाता है और वह मन विश्रान्ति की ओर बढ़ता जाता है और अन्त में उसके हृदय में परतत्त्व का प्रकाश आलोकित हो जाता है।

(धारणा-२७)

यथा तथा यत्र तत्र द्वादशान्ते मनः क्षिपेत् ।
प्रतिक्षणं क्षीणवृत्तेर्वैलक्षण्यं दिनैर्भवेत् ।।५०।।

व्याख्या—पूर्व में कई स्थानों पर ध्यान केन्द्रित करने के लिए बताया गया है जैसे श्वास प्रश्वास के अन्तिम भाग द्वादशान्त में हृदय में, सुषुम्ना में तथा अन्य नाड़ियों के अन्तिम भाग अर्थात द्वादशान्त में ध्यान को केन्द्रित करने को कहा गया है। वहाँ उनमें से किसी भी भाग में जहाँ जहाँ स्वाभाविक रूप से किसी भी प्रकार से यह चेतना शक्ति जावे उस उस द्वादशान्त में बार बार मन को स्थिर करे। ऐसा करने से मन की वृत्तियाँ जो विभिन्न विषयों की ओर जा रही हैं वे क्षीण होकर मन की चंचलता समाप्त हो जायेगी। ऐसा करने से थोड़े ही समय में अपने भीतर असामान्य उस परभैरव स्वरूप की अभिव्यक्ति हो जायेगी। मुख्य बात मन को किसी भी एक स्थान पर केन्द्रित करना है उसकी विधि कुछ भी हो तथा स्थान भी कोई भी हो। आवश्यक नहीं कि श्वास-प्रश्वास में ही हो, हृदय में हो, सुषुम्ना में हो आदि कहीं भी हो। इसका बार-बार अभ्यास करना चाहिए जिससे चित्त की चंचलवृत्ति शान्त हो जाती है इसी शान्तावस्था में ही उस चैतन्य की अनुभूति होती है।

(धारणा-२८)

कालाग्निना कालपदादुत्थितेन स्वकं पुरम् ।
प्लुष्टं विचिन्तयेदन्ते शान्ताभासस्तदा भवेत् ।।५१।।

व्याख्या—धारणा की एक विधि यह भी है कि साधक उस कालाग्नि का ध्यान करे जो सारे शरीर को भस्म कर देती है। इसकी विधि है कि साधक इसका ध्यान करे कि मेरे दाहिने पैर के अंगूठे से यह कालाग्नि उठ रही है और वह मेरे सारे शरीर को भस्म कर रही है। जिस प्रकार गुग्गुल जलकर सभी विषाणुओं को नष्ट कर चारों ओर सुगन्धि फैला देता है उसी प्रकार यह कालाग्नि मेरे सारे दोषों को मिटाकर अपने शान्तस्वरूप को प्राप्त कर देती है। वह चैतन्य स्वरूप ही हो जाता है।

(धारणा-२९)

एवमेव जगत्सर्वं दग्धं ध्यात्वा विकल्पतः ।
अनन्यचेतसः पुंसः पुंभावः परमो भवेत् ।।५२।।

व्याख्या—पूर्व श्लोक में कालाग्नि में अपने शरीर के भस्म होने की बात कही गयी है उसी प्रकार इस श्लोक में कहा गया है कि कालपद से उठी कालाग्नि की ज्वाला से देह के भीतर और बाहर वर्तमान के सारे जगत् के सभी पदार्थ भस्म हो गये हैं ऐसी भावना का अभ्यास करने वाले अनन्य चित्त, निर्विकल्प चित्त भगवान् भैरव का स्वरूप आविर्भूत हो जाता है।

(धारणा-३०)

स्वदेहे जगतो वापि सूक्ष्मसूक्ष्मतराणि च ।
तत्त्वानि यानि निलयं ध्यात्वान्ते व्यज्यते परा ।।५३।।

व्याख्या—अपने शरीर के सभी पदार्थ तथा जगत् के पदार्थों का स्थूल रूप ही हमें ज्ञात होता है किन्तु इनका सूक्ष्म रूप जो इन सबका कारणतत्त्व था वह हमें ज्ञात नहीं है किन्तु उस कारणतत्त्व में अपना ध्यान केन्द्रित करना चाहिए। जैसे शरीर में प्रकृति, महत् अहंकार आदि तथा जगत् में पाँच महाभूत, अस्थि, मांस आदि जो स्थूल तत्त्व हैं ये अपने-अपने कारण तत्त्वों में विलीन हों रहे जो उनका सूक्ष्म रूप है इस तरह की भावना करने पर अन्त में वह परादेवी प्रकट हो जाती है जो इन सभी का परम कारणतत्त्व हैं जिसके ये सभी स्थूल रूप हैं जो दृश्य हैं जिस प्रकार वृक्ष के बीज में ही सारा वृक्ष समाया हुआ है तथा मयूर के अण्डे में सारा मयूर समाया हुआ है इसी प्रकार यह सारा दृश्यजगत् उस परभैरव में समाया हुआ है जो बाहर प्रकाशित हो रहा है ऐसी धारणा करने पर साधक के सारे भेद मिट जाते हैं जिससे वह अद्वय की स्थिति को प्राप्त कर लेता है।

(धारणा-३१)

पीनां च दुर्बलां शक्तिं ध्यात्वा द्वादशगोचरे ।
प्रविश्य हृदये ध्यायन् मुक्तः स्वातन्त्र्यमाप्नुयात् ।।५४।।

व्याख्या—जिन्हें भरपेट खाना-पानी मिलता है तथा जो आरामतलबी जीव होते हैं उनका शरीर तो मोटा हो ही जाता है किन्तु उनकी अक्ल भी मोटी हो जाती है। वे भोगों में ही आसक्त रहते हैं। अध्यात्म में उनकी रुचि न होने से उनकी प्राणशक्ति भी क्षीण हो जाती है। यदि वे योगाभ्यास में लग जाते हैं तो उनके शरीर का मोटापा घटने के साथ-साथ उनकी प्राणशक्ति भी क्षीण होती जाती है अर्थात् सूक्ष्म होती जाती है। इस सूक्ष्म प्राणशक्ति को द्वादशान्त स्थान में अथवा हृदय में प्रविष्ट करके जो ध्यान करता है वह साधक मुक्त होकर अपनी स्वाभाविक स्वातन्त्र्य शक्ति को प्राप्त कर लेता है। मुक्ति का अर्थ ही है पूर्ण स्वतन्त्रता। इसका अनुभव अपने वास्तविक स्वरूप को जान लेने से ही होता है। जब तक इसका ज्ञान नहीं हो जाता तब तक वह संसार में ही भटकता रहता है। स्वयं को जान लेना ही परमेश्वर को जान लेना है। दोनों एक ही चेतन के दो नाम मात्र हैं। जब साधक इस स्थिति में पहुँच जाता है तभी कोई सद्गुरु अपनी दिव्य शक्ति को उसमें प्रवाहित कर उसे वास्तवकिता का अनुभव करा देता है यही परमज्ञान की स्थिति है।

(धारणा-३२)

भुवनाध्वादिरूपेण चिन्तयेत् क्रमशोऽखिलम् ।
स्थूलसूक्ष्मपरस्थित्या यावदन्ते मनोलयः ।।५५।।

व्याख्या—तन्त्र शास्त्र में छः अध्व माने गये हैं जो सूक्ष्म से स्थूल की ओर जाकर जगत् का रूप लेते हैं। छः अध्व हैं—भुवन, तत्त्व, कला, मन्त्र, पद और वर्ण सूक्ष्म है इनसे

पद व मन्त्र बनते हैं। इसी प्रकार कला सूक्ष्म है तथा इसी से तत्त्व व भुवन की रचना होती है जो स्थूल रूप है। इस प्रकार यह सारा जगत् सूक्ष्म और पररूप में विद्यमान है। योगी इस पर चलकर सूक्ष्म का चिन्तन करे तथा सूक्ष्म से भी पर स्वरूप का चिन्तन करता हुआ उसी में अपने को विलीन कर दे। यही सारा विश्व उस विश्व और विश्वात्मक उस परब्रह्म की क्रिया शक्ति का विस्तार है। यह शब्दब्रह्म ही छः अध्व रूप होता है अतः पर ही सूक्ष्म में तथा सूक्ष्म ही स्थूल में विद्यमान रहता है। व्याप्य व्यापक भाव से व्यापक वाप्य रहता है। जिस प्रकार वर्ण से ही मन्त्र व पद बनते हैं उसी प्रकार कला से ही तत्त्व व भुवन बनते हैं। वे सब सूक्ष्म से ही स्थूल रूप लेते हैं जो अभिन्न रूप से स्थूल में विद्यमान रहते हैं। इनको भिन्न-भिन्न नहीं माना जा सकता। जिस प्रकार घट में मिट्टी रहती ही है इसी प्रकार बाद में आविर्भूत होने वाला पदार्थ अपने पूर्ववर्ती कारणतत्त्व में विद्यमान रहता ही है जैसे बीज में पूरा वृक्ष सूक्ष्म रूप में विद्यमान रहता ही है अन्यथा वह प्रकट कैसे हो सकता है? इस प्रकार विश्व के सभी पदार्थ अपने कारणतत्त्व में विद्यमान रहते हैं अतः सभी पदार्थ एक दूसरे से सम्बद्ध हैं अतः ये सब सर्वात्मक है और ये सभी उस परमेश्वर की स्वातन्त्र्य शक्ति का ही विलास है।

योगी को स्थूल से सूक्ष्म में तथा सूक्ष्म से परभाव में अर्थात् चिन्मय के बोध में अपने मन का विलयन कर देना चाहिए। इसी प्रक्रिया से साधक का चित्त शिवतत्त्व में विलीन हो जाता है। इस सारी शक्ति का अधिपति महेश्वर है जो पराशक्ति के अधिष्ठाता हैं।

(धारणा-३३)

अस्य सर्वस्य विश्वस्य पर्यन्तेषु समन्ततः ।
अध्वप्रक्रियया तत्त्वं शैवं ध्यात्वा महोदयः ।।५६।।

व्याख्या—यह सम्पूर्ण जगत् षडध्वमय है जो भुवन, तत्त्व व कला तथा मन्त्र, पद और अर्थ रूपी दोनों प्रकार की कलाओं की रचना है। इन दोनों शक्तियों की सहायता से ही शिव सृष्टि की रचना करते हैं। भुवन, तत्त्व व कला वर्ग प्रकाश से आविर्भूत है। तथा वर्ण, पद और मन्त्र विमर्श स्वरूप है। जिस प्रकार दो अरणियों (लकड़ियों) के रगड़ने से अग्नि उत्पन्न होती है उसी प्रकार इन दोनों शक्तियों की सहायता से ही जगत् की रचना होती है। शिव इन दोनों शक्तियों की सहायता से ही सृष्टि की रचना व संहार करता है। अतः यह जगत् शिव से भिन्न नहीं है इसलिए जगत् के स्वरूप को छोड़कर केवल शिव का ध्यान करने वाले योगी को परमशिव का साक्षात्कार हो जाता है। शिव प्रकाश व विमर्श स्वरूप है वही परमेश्वर है।

(धारणा-३४)

विश्वमेतन्महादेवि शून्यभूतं विचिन्तयेत् ।
तत्रैव च मनो लीनं ततस्तल्लयभाजनम् ।।५७।।

व्याख्या—भगवान् शिव यहाँ फिर भैरवी से कहते हैं कि हे महादेवी! यह सारा दृश्यजगत् शून्यभूत है जो गन्धर्व नगर के समान दिखाई तो देता है किन्तु इसकी कोई वास्तविक सत्ता नहीं है। सत्ता तो केवल शिव की है जो निर्विवाद रूप से सत्य है। अन्य सभी मिथ्या व कल्पना मात्र है जिसे भ्रमवश सत्य मान लिया जाता है। वास्तव में यह शून्य स्वरूप है, कुछ भी नहीं है असत् स्वरूप है। मन को इसी प्रकार की भावना में लीन कर देना चाहिए। इस प्रकार की भावना से साधक अपने ही वास्तविक स्वरूप में लीन हो

जाता है।

(धारणा-३५)

घटादिभाजने दृष्टिं भित्तीस्त्यक्त्वा विनिक्षिपेत् ।
तल्लय तत्क्षणाद् गत्वा तल्लयात्तन्मयो भवेत् ।।५८।।

व्याख्या—घट के भीतर के आकाश में साधक अपने मन को स्थिर करे तथा देखे कि यह भीतर का आकाश बाह्य आकाश से किसी प्रकार भिन्न नहीं है किन्तु घट की दीवारों से इसमें भिन्नता ज्ञात हो रही है। ये दीवारें ही भिन्नता उत्पन्न कर रही हैं जबकि बाह्य आकाश में ऐसी कोई दीवार है ही नहीं इसलिए आकाश आकाश में कोई भिन्नता नहीं है। साधक को घट के भीतर के शून्य आकाश में ध्यान करना चाहिए तो ऐसा करने से यह मन शून्य में ही विलीन हो जाता है। मन के शून्य में विलीन होने पर वह परब्रह्म में विलीन हो जाता है, स्वयं ब्रह्म ही हो जाता है। सारी साधना मन को विलीन करने की है क्योंकि यह सारा जगत् मन के द्वारा ही कल्पित है। मन की विभिन्न वृत्तियाँ ही संसार की रचना करती है। मन जैसा देखना चाहता है उसे संसार वैसा ही दिखाई देता है। मन के परिवर्तन से संसार अपने आप बदल जाता है। उसे बदलने का कोई प्रयत्न नहीं करना पड़ता। सभी संसार को बदलने का प्रयत्न करते हैं किन्तु अपने मन को बदलना नहीं चाहते। संसार बाधा नहीं है, यह मन ही बाधा है, जिसके बदलने पर सब कुछ बदल जाता है। मनुष्य ब्रह्म ही है किन्तु इस मन के कारण उसे जगत् दिखाई दे रहा है, ब्रह्म नहीं दिखाई देता। अतः मन को विलीन कर देने पर वह ब्रह्म ही हो जाता है। इस मिथ्या जगत् से मुक्ति मिल जाती है।

(धारणा-३६)

निर्वृक्षगिरिभित्त्यादिदेशे दृष्टिं विनिक्षिपेत् ।
विलीने मानसे भावे वृत्तिक्षीणः प्रजायते ।।५९।।

व्याख्या—यह सृष्टि चित्त की वृत्ति का ही प्रक्षेपण है। जिसकी जैसी वृत्ति होती है उसे वह जगत् वैसा ही दिखाई देता है। किसी को यह जगत् स्वर्ग से भी सुन्दर दिखाई देता है और कहते हैं कि देवता भी यहाँ आने को तरसते रहते हैं तो बुद्ध व महावीर को यह दुःख रूप ही दिखाई दिया कि यहाँ सब दुःख ही दुःख है, सुख कहीं है ही नहीं। वे सुख की चाह में ही गृह त्याग कर गये किन्तु वेदान्त कहता है यह जगत् ब्रह्मस्वरूप ही है जो सत् चित् व आनन्दस्वरूप है। अतः यह आनन्दस्वरूप ही है। इस मन ने ही इसे दुःख रूप बना दिया है। अतः मन के विलीन होने पर ही उसे उस आनन्द की अनुभूति हो सकती है जो स्वयं ब्रह्म ही है।

मन की इसी वृत्ति को क्षीण करने के लिए इस विज्ञान भैरव में जो ११२ उपाय बताये गये हैं वे सभी मन की गलित करने के ही उपाय हैं। इस श्लोक में एक और उपाय बताया गया है कि किसी वृक्ष रहित प्रदेश अर्थात् मरुभूमि में, अथवा शून्य दिशाओं में पर्वत के शिखर पर अथवा किसी भी ऊँचे स्थान पर जाकर अथवा भित्ति (दीवार) आदि की ओर अपनी दृष्टि को स्थिर करे। इस भावना से साधक की दृष्टि में शून्यता समाने लगती है। मन की वृत्ति किसी आलम्बन को पाकर ही उस ओर आकर्षित होती है। जब उसके सभी आलम्बन छूट जाते हैं तो मन स्थिर होने लगता है तथा मन के स्थिर होने पर उसकी वृत्तियाँ क्षीण हो जाती हैं और उसमें महाप्रकाश का आविर्भाव हो जाता है। वह उस

परमतत्त्व में स्थित हो जाता है। जिससे वह स्वयं ब्रह्मस्वरूप ही हो जाता है। उसकी स्मृति लौट आती है जो मन की वृत्तियों के फेर में विस्मृत हो गई थी। पातंजल योग सूत्र (३/४३) में वर्णित चित्त की इसी स्थिति को महाविदेह्य कहा है जिसमें कहा गया है कि इसके ज्ञान से आवरण का नाश हो जाता है। जिससे प्रकाशात्मक स्वरूप आलोकित हो जाता है।

(धारणा-३७)

उभयोर्भावयोर्ज्ञाने ध्यात्वा मध्यं समाश्रयेत् ।
युगपच्च द्वयं त्यक्त्वा मध्ये तत्त्वं प्रकाशते ।।६०।।

व्याख्या—जिस प्रकार एक पेण्डुलम दायें से बायें निरन्तर चलता रहता है किन्तु दोनों स्थितियों के मध्य में ही वह स्थिर रहता है। जिस प्रकार श्वास व प्रश्वास की क्रिया निरन्तर होती रहती है किन्तु मध्य में द्वादशान्त की अवस्था में वह स्थिर हो जाती है। व्यक्ति का मन बड़ा चंचल है वह कभी शान्त रह ही नहीं सकता। जीवन की भागदौड़ में जब वह विश्राम की स्थिति में आता है तो उसे बस आनन्द आता है किन्तु उस समय या उसके विचार निरन्तर चलते रहते हैं। एक विचार बन्द होते ही दूसरे विचार अपने आप आ जाते हैं। इन दो विचारों के मध्य जो थोड़ा सा अवकाश रहता है वह अवकाश ही उपयोगी है। वही स्थिर अवस्था है जिस पर ध्यान को केन्द्रित करना है। यह सारी दोलन की अवस्था, चंचलता की अवस्था, विचारों के प्रवाह की अवस्था वह शक्तितत्त्व है जो समस्त क्रियाओं का कारण है। जब यह शक्ति अपना कार्य करना बन्द कर देती है तभी उस चेतनतत्त्व की अनुभूति होती है, हलचल में नहीं होती। जिस प्रकार पानी में हलचल होती रहती है तब तक उसमें चन्द्रमा का बिम्ब स्पष्ट नहीं दिखाई देता। जब वह हलचल शान्त हो जाती है तभी दिखाई देता है। इस श्लोक में यही बात कही गयी है कि मन में जो भी भाव उठते हैं तो एक के बाद दूसरे भाव उत्पन्न होते रहते हैं। इन दो भावों के मध्य जो थोड़ा सा अवकाश होता है वही भावों की स्थिर अवस्था है। उस अवस्था में ध्यान को केन्द्रित करना चाहिए। यदि वह स्थिर अवस्था थोड़े समय बनी रही तो इसी अवस्था में चेतना का अनुभव हो जाता है। इस भावनिर्मुक्त शून्य में चित्त के लीन हो जाने के कारण उसमें परमतत्त्व की अभिव्यक्ति हो जाती है, हलचल की स्थिति में उसे नहीं जाना जा सकता। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि जो भी क्रिया है उसका करने वाला वही है। तथा जो भी ज्ञान व ज्ञेय है उसका ज्ञाता भी वही है। इस प्रकार का ज्ञान हो पाना ही परम उपलब्धि है। योगी को इसी को जानने का अभ्यास करना चाहिए। इसके अतिरिक्त अन्य जो भी है वे सब इसी परमतत्त्व का विस्तार है जो इससे भिन्न नहीं है यही एकमात्र ज्ञान है जिसे प्राप्त कर साधक धन्य हो जाता है। कोई सद्गुरु इसी स्थिति में शिष्य को 'तत्त्वमसि' यह तू ही है इसका उपदेश करता है तभी उसके हृदय की ग्रन्थि खुलती है तथा सभी संशय मिटते हैं व सभी कर्मों का क्षय हो जाता है। मुण्डक उपनिषद् में यही बात कही गयी है—

"भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यते सर्व संशयः ।
क्षीयन्ते चास्यकर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे ।।

गीता में इसी को परमधाम कहा है।

(धारणा-३८)

भावेन्यक्ते निरुद्धा चिन्नैव भावान्तरं व्रजेत् ।

तदा तन्मध्यभावेन विकसत्यति भावना ।।६१।।

व्याख्या—किसी अदृष्य, जिसे नहीं देखा है उसमें चेतना को अभ्यास के सहारे स्थापित कर देने पर पहले देखे गये बाह्य पदार्थों की ओर आकृष्ट नहीं होती। जैसे शिव के तीन नेत्र विष्णु की चार भुजा आदि से युक्त शिव व विष्णु का अपने इष्ट ध्येय पदार्थों में चेतना को स्थिर कर दिया जाये तो संसार के दृष्ट पदार्थों में ध्यान नहीं जाता। चित्त की वृत्ति ही ऐसी है कि वह अपनी इच्छित वस्तु की ओर ही आकृष्ट होती है तथा उस समय दूसरी वस्तु की ओर इसका ध्यान ही नहीं जाता। वह उन्हें देखता हुआ भी अनदेखा कर देता है उसे जब कोई इच्छित वस्तु नहीं मिलती तभी वह व्यर्थ व अनुपयोगी को ही उपयोगी समझकर उसकी ओर आकर्षित होता है। जब उसे अपने इष्ट के ध्यान में लगा दिया जाता है तो वह सांसारिक पदार्थों की ओर आकृष्ट होता ही नहीं यहाँ तक कि उसे भोजन आदि से भी रुचि हट जाती है भोगों से ही उसकी रुचि समाप्त हो जाती है। उसका चित्त उसी में एकाग्र हो जाता है। इसी को 'समाधि' अवस्था कहा जाता है। अतः अपनी इच्छित वस्तु में ध्यान को केन्द्रित करना भी धारणा का ही रूप है। वह वस्तु चाहे दृष्ट हो अथवा अदृष्ट, कोई अन्तर नहीं पड़ता। जब ध्येय को ही अपना विषय बनाकर चित्त को इस प्रकार स्थिर किया जाये जैसे पवनरहित स्थान में दीपक स्थिर रहता है। इस स्थिति में ध्याता व ध्यान को छोड़कर ध्येय मात्र ही शेष रह जाता है। इसी को निरालम्ब अथवा शून्य स्थिति कहा जाता है। योगी के लिए यही स्थिति प्राप्त करने योग्य है। चित्त इसी स्थिति को प्राप्त कर विश्रान्ति प्राप्त करता है व उसका सारा भटकाव समाप्त हो जाता है। इसी स्थिति में उसे आत्मबोध होता है जो उसकी परमानन्द की अवस्था है। इसी को ब्रह्मस्वरूप होना कहा जाता है।

(धारणा-३९)

सर्वं देहं चिन्मयं हि जगद् वा परिभावयेत् ।
युगपन्निर्विकल्पेन मनसा परमोदयः ।।६२।।

व्याख्या—मन में ही संकल्प विकल्प उठते हैं तथा इसी के कारण संसार की सभी वस्तुओं में भेद की प्रतीति होती है। मन कभी अभेद को नहीं जान सकता। इस अभेद ज्ञान के लिए साधक को मन के पार जाकर आत्मा के तल पर सोचना पड़ेगा। इस आत्मस्वरूप को जानने के लिए ही उसे साधना में गुजरना पड़ेगा। इस साधना के लिए भारत ने अनेक विधियाँ खोजी हैं। जिसे जो उचित लगे उसको अपना लेना चाहिए। महत्त्व विधि का नहीं, उपलब्धि का है। नाव के रूप में जो पार लगा दे वही श्रेष्ठ है। शीघ्र ही पहुँचने की होड़ में दुर्घटना का खतरा बना रहता है अतः सुरक्षित मार्ग अपनाना ही श्रेष्ठ होता है।

इस श्लोक में गन्तव्य तक पहुँचने का एक बहुत ही सुरक्षित व निश्चित मार्ग बताया गया है। इसमें कहा गया है कि इस सम्पूर्ण देह को अर्थात् इसके प्रत्येक अंग को अथवा इस सारे जगत् के चिन्मय स्वरूप में बिना किसी क्रम के भावना करे कि यह सब कुछ चेतन स्वरूप है। इस प्रकार की भावना करने से मन में जो भेदों की प्रतीति हो रही है वे सभी विकल्प समाप्त होकर वह निर्विकल्प स्थिति में पहुँच जाता है। उसे ज्ञात होने लगता है कि सभी कुछ चैतन्य ही है। इसी भावना से चित् में एक चमत्कार दिखाई देने लगता है। अर्थात् प्रकाश ही प्रकाश दिखाई देने लगेगा। इससे ज्ञात हो जाता है कि यह शरीर व सारा

जगत् प्रकाश से भिन्न नहीं है बल्कि प्रकाश का ही रूप है। यह प्रकाश उस परमतत्त्व आत्मा अर्थात् ईश्वर का ही प्रकाश है जो सर्वव्याप्त है। ऐसा ज्ञान होने पर मन की निर्विकल्प स्थिति प्राप्त हो जाती है। यही योगी की परमोदय अवस्था है। मन की यही उत्कर्ष अवस्था है जिसे जानकर योगी को अभेद का अनुभव हो जाता है कि सभी कुछ उस परमतत्त्व के ही विभिन्न रूप मात्र हैं। उससे भिन्न किसी की भी सत्ता नहीं है।

(धारणा-४०)

सर्व जगत् स्वदेहं वा स्वानन्दभरितं स्मरेत् ।
युगपत् स्वामृतेनैव परानन्दमयो भवेत् ।।६३।।

व्याख्या—वेदान्त और तन्त्र में एक ही प्रकार के विचार दिये गये हैं किन्तु उनकी अभिव्यक्ति में भिन्नता होने से दोनों को भिन्न-भिन्न माना जाने लगा। वस्तुतः एक ही सत्य के दो प्रकार से कहा गया है। वेदान्त ने सृष्टि के उस परमतत्त्व को सत् चित् व आनन्दस्वरूप माना है अर्थात् वही सत्ता है, वही चैतन्य स्वरूप है तथा वही आनन्द स्वरूप भी है। यह सृष्टि उसी का रूप होने से यह भी चैतन्य स्वरूप ही है। इसको जड़ मानना भ्रान्ति मात्र है तथा अज्ञान है। ज्ञान होने पर ही ज्ञात होता है कि यह चैतन्य का ही घनीभूत रूप है अतः उससे भिन्न नहीं है। इसको जानने के लिए पूर्व श्लोक में इसकी विधि बतायी गयी है जिसका प्रयोग करके इसकी प्रत्यक्ष अनुभूति की जा सकती है। यह एक वैज्ञानिक प्रयोग है।

इस सूत्र में उस परमतत्त्व के आनन्द स्वरूप की व्याख्या की गई है कि यह सृष्टि उस परमतत्त्व के आनन्द स्वरूप की ही रचना है। अतः यह समस्त सृष्टि व शरीर आनन्द स्वरूप ही है। उससे भिन्न नहीं है। मनुष्य बाहरी विषयों में जो आनन्द की खोज करता है वह वास्तविक आनन्द नहीं है। वास्तविक आनन्द तो स्वयं के भीतर ही है, जो स्वयं की आत्मा है। मनुष्य को आनन्द की जो अनुभूति होती है वह उस चेतन आत्मा के कारण होती है। आत्मा के अतिरिक्त इस जड़ शरीर व जगत् में आनन्द की अनुभूति नहीं हो सुकती। अतः यह सम्पूर्ण जगत् व शरीर आनन्द स्वरूप ही है; इसे जड़ मान लेना अज्ञान ही है। उस पर प्रयोग करने के लिए योगी को इस प्रकार की भावना करनी चाहिए कि यह सम्पूर्ण जगत् उस परमतत्त्व के आनन्द से परिपूर्ण है उससे भिन्न नहीं है। इस प्रकार की निरन्तर भावना करते रहने से वह योगी सहसा उस अमृतमय स्वाभाविक आनन्दमय अवस्था में प्रविष्ट हो जाता है। उपनिषदों में इसी का वर्णन मिलता है। तैत्तिरीय उपनिषद् में बताया गया है कि ये सब भूत पदार्थ आनन्द से ही उत्पन्न होते हैं, उसी की सहायता से जीते हैं और प्रलय की अवस्था में उसी में लीन हो जाते हैं। यही परमतत्त्व का स्वरूप है जिसे प्राप्त कर योगी कृत्कृत्य हो जाता है। जिस प्रकार वाष्प ही जमकर बर्फ बन जाती है उसी प्रकार यह चैतन्य स्वरूप आत्मा ही जमकर सृष्टि रूप में दिखाई देती है।

(धारणा-४१)

वायुद्वयस्य संघट्टादन्तर्वा बहिरन्ततः ।
योगी समत्वविज्ञानसमुद्गमनभाजनम् ।।६४।।

व्याख्या—श्वास-प्रश्वास के रूप में प्राण व आपान का प्रवाह निरन्तर चलता रहता है। हृदय से निकलकर प्राणवायु बाहर की ओर जाती है तथा वहाँ से अपानवायु का उदय होकर भीतर की ओर हृदय तक जाती है। इन दोनों वायुओं का बाहर तथा भीतर में जहाँ

मिलन होता है वहाँ बीच में वह थोड़े समय रुकती है। इन दोनों स्थानों में प्राण व अपान दोनों ही सम स्थिति में होते हैं जहाँ दोनों में कोई भिन्नता ज्ञात नहीं होती कि कौन प्राण है व कौन अपान है। योगी इसी स्थिति का ध्यान कर समता को प्राप्त हो जाता है, उसकी भेद की भावना ही समाप्त हो जाती है। इस भावना के उदय होने से उसे सम्पूर्ण जगत् में भी समता की भावना का विकास हो जाता है। उसकी भेदभाव की भावना ही समाप्त हो जाती है। यही उसके बोध की स्थिति है। वह प्रबुद्ध हो जाता है। यहाँ शून्यकला की अवस्था है। वही योगी की परमसिद्धि की स्थिति है। गीता में इस समत्व दृष्टि को ही योग कहा गया है। इस समत्व दृष्टि के उदय होने पर ही साधक यह जान जाता है कि यह सम्पूर्ण दृश्यजगत् इस एकमात्र परमतत्त्व का ही विस्तार है जो उससे भिन्न नहीं है। सभी उसी के विभिन्न रूपमात्र हैं। वह एक ही अनेक रूपों में अभिव्यक्त हुआ है इसलिए इनमें कोई भेद नहीं है। शरीरों में भेद होने से आत्म चेतना में भेद नहीं हो जाता। वह सबमें समान रूप से व्याप्त है ऐसा ज्ञान हो जाना ही परमसिद्धि है। किन्तु संसार में कई अज्ञानी ऐसे भी हैं जो आत्माओं को भी भिन्न-भिन्न मानकर सबमें भेद करके ही देखते हैं। वे ईश्वर को भी भिन्न-भिन्न मान लेते हैं। ऐसी दृष्टि ही संसार में विकृति पैदा कर द्वेष फैलाती है। इस समत्व की बात केवल भारत के अध्यात्म की ही देन है। अन्य कोई धर्म इसकी बात नहीं कहता। अतः भारत का वेदान्त व तन्त्र दर्शन को ही प्रामाणिक माना जा सकता है।

(धारणा-४२)

कुहनेन प्रयोगेण सद्य एव मृगेक्षणे ।
समुदेति महानन्दो येन तत्त्वं प्रकाशते ।।६५।।

व्याख्या—भगवान् भैरव, भैरवी द्वारा किये गये प्रश्नों के उत्तर में उस पर भैरव के स्वरूप को जानने के लिए तन्त्र की कई विधियों को बताते हुए धारणा की कई विधियों का उल्लेख करते हुए इस श्लोक में कहते हैं कि हे मृगनयनी! जिस प्रकार एक जादूगर कई प्रकार के विचित्र तमाशे दिखाकर दर्शकों को भ्रमित कर उनको आश्चर्य में डाल देता है जो वास्तव में दिखाई तो देते हैं किन्तु वैसे होते नहीं हैं यह उनके हाथ का करिश्मा मात्र होता है। इन सब आश्चर्यजनक कामों को देखकर व्यक्ति का मन उस समय कुछ क्षण के लिए अद्भुत आनन्द से भर जाता है इसी प्रकार योगी जब इस अद्भुत आनन्द से परिपूर्ण इस सृष्टि के मिथ्यात्व पर उसकी दृष्टि स्थिर हो जाती है तो वह तत्काल परमआनन्द की अवस्था का अनुभव करने लगता है। वह इस जगत् के मिथ्यात्व को जानकर आनन्द का अनुभव करता है। जगत् में उसे इस मिथ्या जगत् में जो आनन्द मिला था उससे कई गुना आनन्द इसकी वास्तविकता को जान लेने से मिलता है। वह जगत् की वास्तविकता को जानकर परमानन्द का अनुभव करता है। जैसे एक वैज्ञानिक अपने प्रयोग के सफल होने पर आनन्द का अनुभव करता है उसे कई गुना आनन्द उस योगी को प्राप्त होता है। ये आध्यात्मिक रहस्य जितना आनन्द देते हैं उतने ये भौतिक रहस्य नहीं दे सकते। किन्तु यह आनन्द ऐसा है जिसका वे स्वयं अनुभव तो कर सकते हैं किन्तु उसकी अभिव्यक्ति नहीं कर सकते। वह गूँगे का गुड़ बनकर रह जाता है। वे मन ही मन उसका स्वाद चखते रहते हैं।

(धारणा-४३)

सर्वस्त्रोतोनिबन्धेन प्राणशक्त्योर्ध्वया शनैः ।

पिपीलस्पर्शवेलायां प्रथते परमं सुखम् ।।६६।।

व्याख्या—सामान्य रूप से श्वास-प्रश्वास निरन्तर चलता रहता है। वह हृदय से बाहर द्वादशान्त तक चलता है इसे रेचक व बाहर द्वादशान्त से पुनः हृदय की ओर आने को पूरक कहा जाता है। द्वादशान्त में तथा हृदय में जाकर जहाँ वह थोड़ी देर रुकता है उसे कुम्भक दशा कहते हैं। इस कुम्भक दशा में योगी को स्वात्मस्वरूप का अनुभव होने लगता है किन्तु प्राणों की इस गति को बीच में ही रोक देने पर वह न भीतर जा सकता है, न बाहर जा सकती है तो इसे स्तम्भ वृत्ति वाला कुम्भक प्राणायाम कहते हैं। इस स्थिति में यह प्राण शरीर से बाहर भी निकल सकता है जिसके निकलने के लिए नौ द्वार हैं—क्षोत्र, चक्षु, नासिका, मुख, गुदा और उपस्थ (लिंग)। यदि इन सभी द्वारों को बन्द कर दिया जाये तो यह प्राण वायु सुषुम्ना मार्ग से ऊपर उठने लगती है। इस समय योगी को ऐसा अनुभव होता है जैसे सुषुम्ना के भीतर कोई चींटी जैसा चल रहा है। उसे यह भी अनुभव होता रहता है कि वह कहाँ तक गई है। इस स्थिति में योगी को परम आनन्द की अनुभूति होने लगती है और उसका मन अन्तर्मुख हो जाता है। प्राणशक्ति का इस प्रकार किसी स्थान पर रुक जाने को ही प्राणायाम (प्राण+आयाम) कहा जाता है। प्राणों का यह रूकना देश, काल और संख्या के अनुसार भिन्न-भिन्न अवधि का हो सकता है जिसे बढ़ाया जा सकता है। यह श्वास की गति दीर्घ व सूक्ष्म भी होती रहती है। दीर्घ होने पर यह बाहर द्वादश अंगुल से आगे चौबीस अंगुल तक जा सकती है तथा भीतर हृदय से आगे नाभि तथा मूलाधार तक जा सकती है। सूक्ष्म होने पर यह ऊपर की ओर उठने लगती है जो सहस्रार तक जा सकती है। सहस्रार में जाकर यह शिवतत्त्व में विलीन हो जाती है। यही योग की परमसिद्धि है। यहाँ जाकर प्राण शान्त हो जाता है, तो मन भी शान्त हो जाता है। यही योगी की निर्विकल्प अवस्था है। यही योगी की परमानन्द की अवस्था है जहाँ पहुँचकर उसकी यात्रा की समाप्ति हो जाती है यह योग साधना अति कष्टप्रद है। यह पुरुषार्थ का मार्ग है।

(धारणा-४४)

वह्नेर्विषस्य मध्ये तु चित्तं सुखमयं क्षिपेत् ।
केवलं वायुपूर्णं वा स्मरानन्देन युज्यते ।।६७।।

व्याख्या—इस मानव शरीर में पवन के ठहराव में सोलह स्थान हैं जिनको योग शास्त्र में आधार कहा जाता है इनमें अग्नि और विष नाम के दो स्थान हैं इनमें नाभि के नीचे चार अंगुल तथा लिंग के ऊपर अग्नि का स्थान है जिसे स्वाधिष्ठान चक्र कहा जाता है तथा लिंग के मध्य में विष नामक स्थान माना गया है। इन दोनों स्थानों के मध्य में आनन्दमय की भावना करनी चाहिए चाहे वहाँ चित्त प्राणायाम से नियन्त्रित हो अथवा न हो। इस भावना के अभ्यास से वह कामानन्द से परिपूर्ण हो जाता है अर्थात् साधक को कामानन्द के समान ही आनन्द की अनुभूति होने लगती है। इस आनन्द की तुलना कामानन्द से इसलिए की जाती है कि अन्य सभी विषयों के आनन्द की अपेक्षा कामानन्द को ही सर्वोत्कृष्ट आनन्द माना गया है। इसलिए योगी को वैसा ही आनन्द प्राप्त होने से उसे कामानन्द की इच्छा ही नहीं होती वह परमानन्द में स्थित हो जाता है। यहाँ 'स्मरानन्दे न युज्यते' के बजाय 'कामानन्दे न युज्यते' होना चाहिये।

(धारणा-४५)

शक्तिसङ्गमसं क्षुब्धशक्त्यावेशावसानिकम् ।
यत्सुखं ब्रह्मतत्त्वस्य तत्सुखं स्वाक्यमुच्यते ।।६८।।

व्याख्या—स्त्री सहवास से उत्तेजित हुई शक्ति आनन्द प्राप्ति की समावेश दशा की समाप्ति के समय घनघनाहट की सी अनुभूति होती है। स्त्री के सहवास से अभिव्यक्त इस सुखमय स्थिति को ब्रह्मानन्द सहोदर माना जाता है अर्थात् ब्रह्मानुभूति के समय जिस आनन्द की अनुभूति होती है उसी की एक झलक स्त्री सहवास के समय अन्त में होती है। दोनों में केवल क्षणिक और स्थायित्व का ही अन्तर होता है। इस समय स्त्री और पुरुष का द्वैतभाव छूट जाता है और स्वात्मनिष्ठ आनन्दमात्र शेष रह जाता है। ब्रह्मानन्द में भी जीव भाव छूटकर आनन्दमात्र ही शेष रह जाता है। आचार्य रचनीश ने अपने ग्रन्थ 'सम्भोग से समाधि की ओर' में इसी स्थिति का वर्णन किया है। इस स्थिति में जो आनन्द मिलता है वह अपना ही है क्योंकि स्वयं की आत्मा ही आनन्द स्वरूप है जो स्त्री के माध्यम से ही अभिव्यक्त होती है, अन्य से नहीं होती। स्त्री सहवास से केवल उसकी अभिव्यक्ति होती है। अतः यही स्थिति बिना सहवास के भी उस स्थिति का ध्यान करने से साधक उस ब्रह्मानन्द दशा में समाविष्ट हो सकता है।

(धारणा-४६)

लेहनामन्थनाकोटैः स्त्रीसुखस्य भरात् स्मृतेः ।
शक्त्यभावेऽपि देवेशि भवेदानन्दसंप्लवः ।।६९।।

व्याख्या—यहाँ भगवान भैरव भैरवी से कहते हैं कि हे देवेशि! यह आनन्द स्वयं के ही भीतर है जो स्त्री के सहवास से प्रकट होता है। इस आनन्द की अभिव्यक्ति में स्त्री को कारण नहीं माना जा सकता कि आनन्द उसमें है। यह आनन्द स्त्री के अभाव में स्मृति की सहायता से भी होता है। अतः यह मानना पड़ेगा कि यह आनन्द स्वयं के भीतर ही है जैसे पूर्वानुभूत स्त्रीसुख का प्रयत्नपूर्वक स्मरण स्वयं करने पर भी व्यक्ति का मन आनन्द से भर जाता है जैसे अधर मधु का आस्वादन, परिचुम्बन, मन्थन, आलिंगन, पुनः पुनः मर्दन, नखक्षत, दन्तक्षत आदि का स्मरण करना। अतः स्त्री के अभाव में भी उनकी याद करने मात्र से व्यक्ति उसमें डूब जाता है और थोड़ी देर के लिए सब कुछ भूल जाता है अतः स्पष्ट है कि यह आनन्द अपना ही है जो स्त्री के अभाव में भी प्रकट हो सकता है। अतः साधक को चाहिए कि वह स्वरूपानन्द स्वाभाविक आनन्द की भावना करे और किसी बाह्य बन्धन का परित्याग कर दे। इस अभ्यास से साधक का चित्त आनन्द से सराबोर हो जाता है। ध्यानमात्र के अभ्यास से सभी बाह्य विषयों से विरक्ति हो जाती है इससे मनुष्य को आनन्द की अनुभूति होने लगती है। विषयों से विरक्त होना ही सुख का कारण बन जाता।

(धारणा-४७)

आनन्दे महति प्राप्ते दृष्टे वा बान्धवे चिरात् ।
आनन्दमुद्गतं ध्यात्वा तैल्लयस्तन्मना भवेत् ।।७०।।

व्याख्या—चिरकाल की प्रतीक्षा के बाद यदि अपनी प्रेमिका का सहवास मिल जाता है तो व्यक्ति के मन में आनन्द का सागर हिलौरे लेने लगता है। यदि परम दरिद्र को एकाएक अपार धनराशि मिल जाये तो उसके आनन्द का पूछना ही क्या! इसी प्रकार लम्बे समय से परदेश गये व्यक्ति के एकाएक घर लौट आने पर उसके परिवार वालों को

अपार हर्ष होता है। आनन्द की इस प्रफुल्ल अवस्था को पकड़कर उसमें निरन्तर धारणा का अभ्यास करते रहने से साधक का चित्त उसी में लीन होकर तदाकार हो जाता है। वह अन्तर्मुख होकर उत्कृष्ट आनन्दमय दशा में विश्राम प्राप्त कर लेता है।

(धारणा-४८)

जग्धिपानकृतोल्लासरसा नन्दविजृम्भणात् ।
भावयेद् भरितावस्थां महानन्दस्ततो भवेत् ।।७१।।

व्याख्या—गहरी भूख को मिटाने के लिए जो कुछ खाया जाये तथा इसी तरह से गहरी प्यास को मिटाने के लिए जो कुछ शीतल पेय आदि पीया जाय, उसमें भोजन के प्रत्येक ग्रास तथा पान के प्रत्येक घूँट से शरीर में सन्तोष, पुष्टि और भूख प्यास की निवृत्ति में तीन कार्य अवश्य होते हैं। इससे शरीर में उल्लास, रस और आनन्द का आविर्भाव होता है इसी को उल्लास कहा गया है। भोजन और पान से स्थूल, सूक्ष्म व सूक्ष्मतम नाड़ियों का सूखापन दूर होकर उनमें स्निग्धता का संचार होता है, उसको रस कहते हैं। भोजन पान से ही इनमें रस का संचार होता है जिनसे एक अनोखे सुख की अनुभूति होती है। यह सुख ही स्वात्म स्वरूप की अनुभूति की याद दिला देता है। उस भरितावस्था में अर्थात् आनन्द से परिपूर्ण स्थिति में एकाग्रचित्त से भावना करने पर मन परमआनन्द से परिपूर्ण हो जाता है।

(धारणा-४९)

गीतादिविषयास्वादासमसौख्यैकतात्मनः ।
योगिनस्तन्मयत्वेन मनोरूढ़ेस्तदात्मता ।।७२।।

व्याख्या—शरीर में पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ हैं, श्रोत्र, त्वचा, आँख, जिह्वा तथा नासिका। ये पाँचों पाँच प्रकार के भिन्न-भिन्न विषयों को ग्रहण करती हैं। ये विषय हैं—शब्द, स्पर्श, रूप, रस व गन्ध। इनमें श्रोत्र मधुर गान को ग्रहण कर आनन्दित होते हैं, त्वचा किसी कोमल वस्तु का स्पर्श करके आनन्दित होती है। आँख, किसी सुन्दर वस्तु को देखकर आनन्दित होती है। जिह्वा स्वादिष्ट रस को ग्रहण कर आनन्दित होती है तथा नासिका अच्छी गन्ध को सूँघकर आनन्दित होती है। ऐसा आनन्द मूर्ख से मूर्ख तथा ज्ञानी से ज्ञानी सभी व्यक्तियों में समान रूप से होता है। इस आनन्द को व्यक्त नहीं किया जा सकता किन्तु गूँगे के गुड़ की भाँति इसका सभी अनुभव करते हैं। यह आनन्द ही स्वचेतना का आनन्द है जिसका अनुभव कर प्रत्येक व्यक्ति का चित्त थोड़े समय के लिए एकाग्र हो जाता है और सभी प्रकार की चिन्ताओं से मुक्त हो जाता है। इस दशा में योगी जब एकाग्रदशा में अपने चित्त को अभ्यास के द्वारा तन्मय बना लेता है तो इस चित्त की स्थिरता के कारण उसमें अद्भुत शक्ति का संचार हो जाता है। चित्त की स्थिरता में ही शक्ति का संचार होता है जिससे आनन्द की अनुभूति होती है। यह आनन्द ही ब्रह्मरूपिता है इसमें स्थिर हो जाना ही ब्रह्म हो जाना है। जब तक चित्त में चंचलता बनी रहती है तब तक उसे कभी आनन्द की अनुभूति नहीं हो सकती। एकाग्र अवस्था में विषयों का विस्मरण हो जाता है तथा आनन्दमात्र ही शेष रह जाता है। इसी को अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित होना कहा गया है क्योंकि यह आनन्द ही निज का स्वरूप है जो सत् व चित्त के साथ-साथ आनन्दस्वरूप भी है। इसलिए तन्त्र छोड़ने की बात नहीं कहता उपलब्धि की बात कहता है कि जो आनन्द मनुष्य का स्वभाव ही है उसे प्राप्त कर उसी में तन्मय हो

जाना यही उपलब्धि है। वेदान्त भी उपलब्धि की बात कहता है कि जो प्राप्त ही है उससे जानना मात्र है। जो दु:खों को छोड़ने की बात करते रहते हैं किन्तु आनन्द प्राप्ति की बात नहीं करते। जिसे आनन्द नहीं मिला वे ही रात-दिन दु:खों के ही रोने रोते रहते हैं किन्तु आनन्द प्राप्ति के बिना दुखों का अन्त नहीं हो सकता। आनन्द का अभाव ही दुखों का कारण बन जाता है। अतः तन्त्र इस आनन्द में ही स्थिर होने की बात कहता है। वही ब्रह्मस्वरूप हो जाता है।

(धारणा-५०)

यत्र यत्र मनस्तुष्टिर्मनस्तत्रैव धारयेत् ।
तत्र तत्र परानन्दस्वरूपं संप्रवर्तते ।।७३।।

व्याख्या—जहाँ जहाँ मन को तुष्टि मिलती है वहीं वहीं मन जाता रहता है। तुष्टि का अर्थ मन के उल्लास से है, क्षोभ से नहीं। पाँच ज्ञानेन्द्रियों और पाँच कर्मेन्द्रियों के विषयों की ओर मन सदा रमता रहता है। किन्तु मन को नियन्त्रण में रखकर उसे उत्तम विषयों की ओर लगाना चाहिए। मन पर नियन्त्रण न रखकर यदि वह नाना प्रकार के विकल्पों से क्षुब्ध हो जाता है तो योगी अपनी योगारूढ़ दशा से गिर जाता है। काम, क्रोध आदि के क्षोभ को शान्त करके ही योगी अपने मन को स्थिर कर सकता है। अतः मन जिस जिस मनोहर व सुन्दर वस्तु की ओर जाता है उसमें वहीं स्थिर करने का अभ्यास करे तथा यह कल्पना करे कि यह सुन्दर वस्तु मेरा ही स्वरूप है जो आनन्दमय शिव रूप ही है, यह सब मेरी ही विभूति है तथा मेरा ही स्वरूप सर्वत्र स्पन्दित हो रहा है, मेरे से भिन्न कुछ भी नहीं है। किसी भी व्यक्ति का चित्त, किसी भी वस्तु में लग जाता है तो वह उसी की ओर आकर्षित होकर भागने लगता है व अन्य सभी बातों को भूल जाता है। उसी स्थिति को केन्द्रबिन्दु बनाकर जब योगी भावना के अभ्यास से मन को स्थिर कर देता है तो उसकी परम आनन्दमय स्वात्म स्वरूप में प्रतिष्ठा हो जाती है। यही उसकी योग की प्रतिष्ठा है। जो मुमुक्षु साधक है उसे किसी सुन्दर वस्तु को देखकर मन को पवित्र रखे, उसे मलिन न होने दे। मुक्त पुरुष का तो मन समाधिरत रहता है उसमें क्षोभ उठता ही नहीं है। अतः साधक को इसकी ओर ध्यान रखना चाहिए। क्षोभ के शान्त हो जाने को ही परमपद कहा जाता है। जब चित्त में किसी प्रकार का स्पन्दन ही नहीं होता कोई हलचल नहीं होती समाधि की यही अवस्था परम गति है। इसी बात को तन्त्र ग्रन्थों में कई स्थानों पर कहा गया है।

(धारणा-५१)

अनागतायां निद्रायां प्रणष्टे वाह्यगोचरे ।
सावस्था मनसा गम्या परा देवी प्रकाशते ।।७४।।

व्याख्या—जब मनुष्य सोने लगता है तो नींद से पहले एक ऐसी स्थिति होती है जिसमें नींद भी नहीं आई किन्तु उसे इसका भी भान नहीं होता कि मैं जगा हुआ हूँ। उसे बाह्य वस्तुएँ दिखना भी बन्द हो जाता है। जब ध्यान में भी ऐसी ही स्थिति बन जाये कि वह ध्यान में इतना गहरा चला जाये कि उसे बाहर की वस्तुएँ आँखें खुली रहने पर भी न दिखाई दे, इस स्थिति को लाने का साधक को अभ्यास करना चाहिए। इससे साधक का मन निर्विकल्प हो जाता है बाह्य विकल्पों की प्रतीति समाप्त हो जाती है, इस स्थिति को परावस्था कहा जाता है जो जाग्रत व स्वप्न के बीच की अवस्था जैसा है। इसमें साधक का परादेवीयमय स्वरूप भासित होने लगता है।

(धारणा-५२)

तेजसा सूर्यदीपादेराकाशे शबलीकृते ।
दृष्टिर्निवेश्या तत्रैव स्वात्मरूपं प्रकाशते ।।७५।।

व्याख्या—दिन में सूर्य के प्रकाश से, रात्रि में चन्द्रमा के प्रकाश से तथा घर में दीपक के प्रकाश से जो स्थान प्रकाशित है उनमें ध्यान करने से तथा दृष्टि को स्थिर करने से योगी को स्वात्म स्वरूप की अभिव्यक्ति हो जाती है। ध्यान को किसी भी स्थान पर केन्द्रित किया जाये उसके थोड़े अभ्यास से ही बाहरी दृश्य विलीन हो जाने पर अपने आत्मा के प्रकाश को दिखाई देना आरम्भ हो जाता है। वह भीतर जो प्रकाश दिखाई देता है वह आत्मा का ही प्रकाश है इसका ज्ञान हो जाता है।

(धारणा-५३)

करङ्किण्या क्रोधनया भैरव्या लेलिहानया ।
खेचर्या दृष्टिकाले च परावाप्तिः प्रकाशते ।।७६।।

व्याख्या—तन्त्र ग्रन्थों में पाँच प्रकार की मुद्राएँ प्रसिद्ध हैं वे हैं करंकिणी, क्रोधना, भैरवी, लेलिहाना, और खेचरी। करंकिणी मुद्रा सारे संसार को संज्ञाशून्य देखती है क्रोध से भरी मुद्रा क्रोधना कहलाती है। भैरवी दृक् शक्ति है। सब को चाट जाने में लगी मुद्रा लेलिहाना है और दूर आकाश तक फैली मुद्रा खेचरी कही जाती है। ये मुद्राएँ जब अपने-अपने काम में लग जाती हैं तो उनमें परादेवी का प्रकाश आलोकित हो उठता है। इस स्थिति में जो साधक इन मुद्राओं की अपने में भावना करता है उसका निष्कला देवी से अभेद स्थापित हो जाता है। **करंकिणी मुद्रा के साधक ज्ञानसिद्ध कहलाते हैं। क्रोधनी मुद्रा के साधक मन्त्र सिद्ध कहलाते हैं। भैरवी मुद्रा के साधक मेलाप सिद्ध कहलाते हैं तो लेलिहाना मुद्रा के साधक शाक्त सिद्ध कहलाते हैं खेचरी मुद्रा के साधक शांभव सिद्ध कहलाते हैं। इन पाँचों मुद्राओं को साधने की विधि आगे के पाँच श्लोकों में बतायी गयी है।**

(धारणा-५४)

मृद्वासने स्फिजेकेन हस्तपादौ निराश्रयम् ।
निधाय तत्प्रसङ्गेन परा पूर्णा मतिर्भवेत् ।।७७।।

व्याख्या—ध्यान साधना के लिए बैठते समय आसन का उपयुक्त होना आवश्यक है। जिस आसन पर बैठना हो वह न अधिक ऊँचा हो, न अधिक नीचा हो तथा वह सख्त भी न हो अन्यथा शरीर को स्थिर करना कठिन होता है। आसन वस्त्र का हो, मृगचर्म का हो अथवा ऊन का हो वह कोमल होना चाहिए जिस पर बैठने से कष्ट न हो। उस आसन पर इस प्रकार बैठना चाहिए कि साधक का आधा शरीर ही उस आसन पर टिका रहे तथा हाथ और पाँवों को ढीला छोड़ दे। पतंजलि ने अपने योग दर्शन में कहा है कि 'स्थिर सुखमासनम्' जिस पर स्थिरतापूर्वक सुख से बैठा जा सके वही आसन श्रेष्ठ है। इस सुखमय स्थिति में बैठकर ही ध्यान करने में मन स्थिर रहता है। कोमल आसन पर बैठने से शरीर को विश्राम मिलता है जिससे उसकी चंचलता दूर होती है। मन की चंचल वृत्ति को रोकने के लिये आसन के उपयुक्त होने से बुद्धि स्थिर रहती है जो ध्यान में आवश्यक है।

(धारणा-५५)

उपविश्यासने सम्यग् बाहू कृत्वाऽर्ध कुञ्चितौ ।
कक्षव्योम्नि मनः कुर्वन् शममायाति तल्लयात् ।।७८।।

व्याख्या—उपयुक्त आसन पर बैठकर अपने बाजुओं को थोड़ा तिरछा करके समेटकर उनको अपनी काँख के पास सुविधापूर्वक आराम से टिका दें। इस स्थिति में परम विश्रान्ति का अनुभव होता है। इस विश्रान्ति दशा में एकाग्रता बढ़ाने से यह मुद्रा सिद्ध हो जाती है और मन उसी स्थिति में लीन हो जाता है। मन के शान्त होने से ही साधक को अपने आत्मस्वरूप का अनुभव हो जाता है। जब तक मन में कई प्रकार के विकल्प उठते रहते हैं तभी तक मन अशान्त बना रहता है तथा इसी अशान्त अवस्था के कारण ही स्वात्म स्वरूप को नहीं जाना जा सकता। जब तक बर्तन का जल हिलता रहता है तब तक चन्द्रमा का बिम्ब उसमें नहीं दिखाई पड़ता। अतः सारे प्रयत्न मन को शान्त स्थिति में जाने के लिए ही किये जाते हैं।

(धारणा-५६)

स्थूलरूपस्य भावस्य स्तब्धां दृष्टिं निपात्य च ।
अचिरेण निराधारं मनः कृत्वा शिवं व्रजेत् ।।७९।।

व्याख्या—किसी भी स्थूल पदार्थ पर बिना पलक झपके एकटक दृष्टि डाले। इस प्रकार का अभ्यास करते रहने से मन अन्तर्मुख हो जाता है तथा उसका बाह्य स्वरूप लुप्त हो जाता है उसको बाह्य स्वरूप का आभास ही नहीं होता। इस एकाग्र अवस्था में वह साधक सभी चिन्ताओं से मुक्त हो जाता है उसे शिवभाव की प्राप्ति हो जाती है। यह त्राटक का ही प्रयोग है।

(धारणा-५७)

मध्यजिह्वे स्फारितास्ये मध्ये निक्षिप्य चेतनाम् ।
होच्चारं मनसा कुर्वंस्ततः शान्ते प्रलीयते ।।८०।।

व्याख्या—इस श्लोक में खेचरी मुद्रा को सिद्ध करने की बात कही गयी है कि अपने मुँह को फैलाकर जिह्वा को उलटकर तालु प्रदेश में ले जाने से खेचरी मुद्रा बनती है। इस मुद्रा में अपने मन को स्थिर करके स्वररहित हकार का उच्चारण करने से साधक शान्त अवस्था को प्राप्त हो जाता है। सामान्यतया श्वास छोड़ते समय **हं** का उच्चारण होता है तथा श्वास को भीतर लेते समय **सः** का उच्चारण होता है। इस प्रकार **हंसः, सोऽहं** का स्वाभाविक उच्चारण होता रहता है इसी को अजपा गायत्री कहते हैं किन्तु खेचरी मुद्रा में सकार का उच्चारण नहीं हो पाता अतः उस समय हकार का उच्चारण होता रहता है। इस खेचरी मुद्रा में अपनी दृष्टि को भूमध्य में स्थिर करना चाहिए। इस मुद्रा को खेचरी मुद्रा कहा जाता है। इसी से प्राण और अपान की गति में समता आती है। प्राणों को स्थिर करने से एकाग्रता सिद्ध होती है, जिससे आत्मानुभव होता है।

(धारणा-५८)

आसने शयने स्थित्वा निराधारं विभावयन् ।
स्वदेहं मनसि क्षीणे क्षणात् क्षीणाशयो भवेत् ।।८१।।

व्याख्या—किसी अति कोमल गद्दी आदि पर शयन करने से शरीर हल्का हो जाता है तथा उसमें आनन्द अनुभव होता है। इस आनन्द की स्थिति में वह अपने शरीर का ही विस्मरण कर जाता है। इस स्थिति में चित्त की सारी वृत्तियाँ क्षीण हो जाती हैं जिससे

चित्त निराधार हो जाता है। इस अवस्था में योगी ऐसी भावना करे कि मैं देह नहीं हूँ, मेरा देह नहीं है तथा जो आनन्द मुझे मिल रहा है वही मेरा स्वरूप है इस तरह की भावना का निरन्तर अभ्यास करने से योगी की निराकार भावना दृढ़ हो जाती है उसे अपने शरीर की भी विस्मृति हो जाती है जिससे उसकी सारी वासनाएँ क्षणभर में शान्त हो जाती हैं।

(धारणा-५९)

चलासने स्थितस्याथ शनैर्वा देहचालनात् ।
प्रशान्ते मानसे भावे देवि दिव्यौघमाप्नुयात् ।।८२।।

व्याख्या—इस श्लोक में भगवान् भैरव, भैरवी को चित्त को शान्त करने की एक और विधि बताते हुए कहते हैं कि हे देवी! किसी गतिमान् सवारी पर बैठकर चलने से जैसे उसके चलने के साथ-साथ शरीर भी आगे पीछे हिलता रहता है। उसी प्रकार अपने शरीर को जानबूझकर उसी प्रकार हिलाने अथवा किसी चलासन पर बैठे बिना भी अपने शरीर को उसी प्रकार हिला लें जैसे वह किसी चल आसन जैसे बैलगाड़ी, घोड़ा, रथ, हाथी आदि पर बैठने पर हिल रहा हो। इस प्रक्रिया के अभ्यास से मन की सत्ता क्षीण होने लगती है व एक अनोखे सुख का अनुभव होने लगता है इससे चित्त की वृत्ति क्षीण हो जाती है तथा चित्त के विलीन होने पर साधक को दिव्य लोकों में निवास करने वाले परम योगियों के तेजोमय स्वरूप की प्राप्ति हो जाती है, अर्थात् उसका ज्ञानमय और आनन्दमय स्वरूप अभिव्यक्त हो जाता है।

(धारणा-६०)

लीनं मूर्ध्नि वियत्सर्वं भैरवत्वेन भावयेत् ।
तत्सर्वं भैरवाकारं तेजस्तत्त्वं समाविशेत् ।।८३।।

व्याख्या—जिस प्रकार यह सर्वसंहारक कालरूप भैरव जगत् के सभी पदार्थों को अपने में समेटे हुए हृदय, ब्रह्मरन्ध्र आदि सभी स्थानों में विद्यमान है उसी प्रकार योगी यह कल्पना करे कि यह सारा जगत् आकाश के रूप में अथवा अन्धकार के रूप में हृदय, ब्रह्मरन्ध्र आदि प्रमुख स्थानों में विद्यमान है। इस भावना के अभ्यास से अन्ततः सभी पदार्थ भैरवस्वरूप प्रकाशमय परमतत्त्व में समाविष्ट हो जाते हैं अर्थात् इस संसार में जो भी पदार्थ हैं वे सब शिवमय हैं, शिव से अभिन्न हैं ऐसी भावना करने से योगी के चित्त में ब्रह्म प्रकाशित हो जाता है।

(धारणा-६१)

किञ्चिज्ज्ञातं द्वैतदायि बाह्यालोकस्तमः पुनः ।
विश्वादिभैरवं रूपं ज्ञात्वाऽनन्तप्रकाशभृत् ।।८४।।

व्याख्या—सृष्टि में यह भैरव ही चैतन्य स्वरूप है जो जाग्रत अवस्था में वैश्वानर कहा जाता है जिससे भेद दृष्टि रहती है। वही चैतन्य स्वप्नावस्था में 'तेजस' रूप में रहता है तथा सुषुप्ति अवस्था में वही 'प्राज्ञ' अवस्था में रहता है। तुरीय अवस्था में वही चैतन्य 'भैरव रूप' में रहता है। यह इसी भैरवरूपी चैतन्य का ही सर्वविध विकास है। इस प्रकार जान लेने पर साधक योगी अनन्त प्रकाश से परिपूर्ण हो जाता है। इस प्रकार यह विश्व, तेजस, प्राज्ञ एवं चेतन आदि सब उस ब्रह्म का ही विस्तार है जो परभैरव स्वरूप है।

(धारणा-६२)

एवमेवदुर्निशायां कृष्णपक्षागमे चिरम् ।

तैमिरं भावयन् रूपं भैरवं रूपमेष्यति ।।८५।।

व्याख्या—परभैरव का ही अत्यन्त भयंकर स्वरूप तिमिररूप अर्थात् अन्धकार रूप माना जाता है इसलिए कृष्णपक्ष की घनघोर काले बादलों से भरी रात्रि में चिरकाल तक इस अन्धकार स्वरूप की भावना करे। इस भयंकर अन्धकारमय स्वरूप में अपनी धारणा को केन्द्रित करे। इसी को तिमिर भावना कहा गया है। यह परभैरव का ही अत्यन्त भयंकर स्वरूप माना जाता है। इसमें भावना को स्थिर करने पर योगी को भैरव स्वरूप की प्राप्ति हो जाती है अर्थात् उसमें अक्षय आनन्द की अभिव्यक्ति हो जाती है तथा सभी प्रकार के सांसारिक भय समाप्त हो जाते हैं। इस भावना का अभ्यास करते समय योगी अपनी आँखों को खुला रखता है।

(धारणा-६३)

एवमेव निमील्यादौ नेत्रे कृष्णाभमग्रतः ।
प्रसार्य भैरवं रूपं भावयंस्तन्मयो भवेत् ।।८६।।

व्याख्या—इस श्लोक में निमीलन भावना को बताया गया है कि आँख बन्द करके इस भावना का अभ्यास किया जाता है। कृष्ण पक्ष की घनी अँधियारी रात के न होने पर साधक को चाहिए कि वह अपनी आँखें बन्द करके और अपने सामने भयानक घने काले अन्धकार की भावना करे। इस भावना का अभ्यास बढ़ाने पर उसकी आँखें खोल देने के बाद भी भगवान् भैरव का यह भयंकर रूप ही भासित होता रहता है। अन्ततः उसकी भयंकरता समाप्त हो जाती है और अत्यन्त आश्चर्यजनक प्रकाशमय भैरव स्वरूप की प्रतीति होने लगती है।

(धारणा-६४)

यस्य कस्येन्द्रियस्यापि व्याघाताच्च निरोधतः ।
प्रविष्टस्याद्वये शून्ये तत्रैवात्मा प्रकाशते ।।८७।।

व्याख्या—ये इन्द्रियाँ बाहर की ओर ही देखती हैं इसलिए इनको विषय ही दिखाई देते हैं जिससे ये इन विषयों के भोग में ही रस लेने लगती हैं, इनमें रस लेने के कारण ये अपने वास्तविक स्वरूप को ही विस्मृत कर जाती हैं। ये बाह्य विषय इसलिए सुखप्रद प्रतीत होते हैं कि इनको अपने भीतर के वास्तविक सुख का अनुभव ही नहीं हुआ है। जब इनको भीतर के सुख का अनुभव हो जाता है तो ये बाह्य सुख अपने आप छूट जाते हैं, इनको छोड़ना नहीं पड़ता। किन्तु इस आन्तरिक सुख की प्राप्ति के लिए इन बाह्य सुखों को छोड़ना पड़ता है। इन विषयों से जब सम्पर्क छूट जाता है तो ये विषय इन इन्द्रियों को आकर्षित नहीं कर सकते। यह सम्पर्क दो प्रकार से छूटता है। या तो बाह्य विरोधी पदार्थों के कारण इनसे सम्पर्क छूट जाता है अथवा क्षीण हो जाता है जैसे धार्मिक भावना दृढ़ होने पर यौन आकर्षण कम हो जाता है अथवा दब जाता है अथवा किसी विकृति के कारण उनमें रस ही नहीं आता अथवा प्रयत्नपूर्वक इन्द्रियों को रोक दिया जाता है। इन दोनों ही विधियों से इन्द्रियों का बाह्य विषयों से सम्पर्क छूट जाता है तो साधक अन्तर्मुख हो जाता है। उसकी द्वैत दृष्टि दब जाती है तथा उसमें अद्वय तत्त्व का उन्मेष होने लगता है। वह सर्वत्र एक ही आत्मतत्त्व का दर्शन करने लगता है। बाह्य विषयों के छूट जाने से इन्द्रियाँ शून्यत्व का अनुभव करने लगती हैं। इस शून्यत्त्व की भावना को दृढ़ करने पर साधक का वह स्वात्म स्वरूप प्रकाशित हो उठता है।

(धारणा-६५)

अबिन्दुमविसर्गं च अकारं जपतो महान् ।
उदेति देवि सहसा ज्ञानौघः परमेश्वरः ।।८८।।

व्याख्या—इस श्लोक के विद्वानों ने कई अर्थ किये हैं। एक अर्थ यह किया गया है कि अं और अः इन दोनों स्वरों के बिन्दु और विसर्ग को छोड़कर जो कि पूरक और रेचक प्राणायाम के प्रतीक हैं, कुम्भक प्राणायाम में स्थित होकर केवल अकार का जप करने वाले योगी के चित्त में सहसा परमेश्वर प्रकट हो जाते हैं जिससे चित्त में ज्ञान के उदय होने से सभी विकल्पों का नाश हो जाता है। संचित विकल्पों का नाश हो जाने से और नये विकल्पों की उत्पत्ति न होने से परमेश्वर के ज्ञानमय स्वरूप के अतिरिक्त कुछ भी नहीं बचा रहता। अतः इस धारणा के अभ्यास से साधक ज्ञानस्वरूप हो जाता है।

(धारणा-६६)

वर्णस्य सविसर्गस्य विसर्गान्त चितिं कुरु ।
निराधारेण चित्तेन स्पृशेद् ब्रह्म सनातनम् ।।८९।।

व्याख्या—जिस प्रकार वर्णमाला का प्रथम स्वर अकार है इसी प्रकार सृष्टि का प्रथम तत्त्व शिव है। इस अंकार में जो बिन्दु अं है वह शून्य स्वरूप है तथा अः में जो विसर्ग है वह भेद पैदा करने वाला है। अतः इस बिन्दु और विसर्ग को छोड़कर केवल अकार स्वरूप अर्थात् अद्वैत का स्वरूप ही परमेश्वर है अतः उसी की उपासना करने से साधक ज्ञानस्वरूप हो जाता है। ऐसा इससे पूर्व धारणा में बताया गया है।

किन्तु इस श्लोक में बताया गया है कि अं और अः में बिन्दु और विसर्ग में से अकार को निकाल देने पर केवल बिन्दु (.) और विसर्गः ही बच रहते हैं। बिना आधार (अकार) के इनको समझ पाना कठिन है। योगी जब इनमें धारणा करते हुए अपने चित्त को भी इसी तरह निराधार निर्विषय बना देते हैं तो उसको परम निर्वृत्ति (मोक्ष) प्राप्त हो जाती है।

पहले श्लोक में बिन्दु और विसर्ग से रहित अकार में धारणा का अभ्यास और इस श्लोक में अंकार रहित बिन्दु अथवा विसर्ग में धारणा का विकास बताया गया है। इन दोनों में यही भेद है।

(धारणा-६७)

व्योमाकारं स्वमात्मानं ध्यायेद् दिग्भिरनावृतम् ।
निराश्रया चितिः शक्तिः स्वरूपं दर्शयेत् तदा ।।९०।।

व्याख्या—किसी दृश्य पदार्थ में तो धारणा को स्थिर किया जा सकता है किन्तु वह परमात्मा तो निराकार है शून्य स्वभाव है तथा वहीं स्वात्मस्वरूप है उसमें धारणा को कैसे स्थिर किया जाये तथा उसकी सत्ता को कैसे स्वीकार किया जाये कि उसका अस्तित्व है? इसके लिए जिस प्रकार आकाश भी शून्य स्वरूप है तो भी उसकी भी सत्ता को स्वीकार किया गया है। इसी प्रकार वह परमात्मा भी शून्य स्वभाव वाला होते हुए भी उसकी सत्ता है इसे कई प्रयोगों व प्रमाणों से सिद्ध किया जा सकता है; उसमें भी धारणा को स्थिर करने की बात कही गयी है। वह किसी भी प्रकार की आकृति से रहित होते हुए भी मिथ्या नहीं है। वह सभी प्रकार की उपाधियों से रहित होते हुए भी वही विश्वव्यापी चेतना है जो अपने भीतर आत्मरूप में अवस्थित है। इसमें धारणा को स्थिर करने पर यह चित्तिशक्ति बाह्य आलम्बनों से मुक्त होकर अपने वास्तविक स्वरूप को प्रकट कर देती है अर्थात्

साधक अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित हो जाता है। वह अपने को शिव ही मानने लग जाता है। यहीं पर वह **'अहं ब्रह्मास्मि'** की घोषणा करता है।

(धारणा-६८)

किञ्चिदङ्गं विभिद्यादौ तीक्ष्णसूच्यादिना ततः ।
तत्रैव चेतना युक्त्वा भैरवे निर्मला गतिः ।।९१।।

व्याख्या—यह भैरव बोधस्वरूप है जो चैतन्य है। इस चैतन्य स्वरूप का अनुभव करने के लिए अपने अंगूठे अथवा ऊँगली में काई तीक्ष्ण वस्तु सुई आदि चुभो दें तथा उससे जो पीड़ा होती है उसका अनुभव करें कि यह पीड़ा किसको हो रही है तथा इसका कारणतत्त्व क्या है? तो ज्ञात हो जायगा कि शरीर में यह जो चेतन तत्त्व है उसी के होने से यह पीड़ा हो रही है। इसकी अनुपस्थिति में पीड़ा नहीं हो सकती। अतः पीड़ा का अनुभव करने वाली चेतना ही है। साधक को इससे उस बोधभैरव का ज्ञान हो जाता है।

(धारणा-६९)

चित्ताद्यन्तःकृतिर्नास्ति ममान्तर्भावयेदिति ।
विकल्पानामभावेन विकल्पैरुज्झितो भवेत् ।।९२।।

व्याख्या—इस सृष्टि में विभिन्न तत्त्व हैं जिनके विभिन्न संयोगों से विभिन्न प्रकार के शरीरों की रचना होती है। मनुष्य के शरीर में इन्हीं तत्त्वों के संयोगों से सर्वप्रथम अन्तःकरण की रचना होती है। इस अन्तःकरण में मन, बुद्धि व अहंकार की रचना होती है। अहंकार से 'मैं पन' का अनुभव होता है तथा मन से विचार उत्पन्न होते हैं अतः विचारों का नाम ही मन है। इस मन में कामना व वासना का उदय होता है जिसकी पूर्ति के लिए वह कर्म की ओर प्रवृत्त होता है तथा इन कर्मों का जो भी अच्छा बुरा फल होता है उसे भोगने के लिए वह बाध्य होता है जो उसके पुनर्जन्मों का कारण बन जाता है। अतः यह सारा मायाजाल अन्तःकरण के द्वारा मन से ही रचा जाता है जो उसके विचारों का ही रूप है जैसे उसके विचार होते हैं वैसा ही यह जगत् उसे दिखाई देने लगता है। यह जगत् कैसा है तथा इसका वास्तविक स्वरूप क्या है इसका इस मन को कुछ भी पता नहीं है। वह भोगों में ही लिप्त रहकर इसे जानने की चेष्टा भी नहीं करता। मन की भावना पूर्ति के कारण ही सूक्ष्म शरीर की रचना होती है इसी से स्थूल शरीर बनता है तथा ज्ञानेन्द्रियों व कर्मेन्द्रियों की रचना होती है। इन सबका कारण यह अन्तःकरण ही है।

इसके वास्तविक स्वरूप को जानने के लिये इस श्लोक में कहा गया है कि ऐसी भावना करनी चाहिये कि इस शरीर में चित्त आदि अन्तःकरण की कोई सत्ता ही नहीं है तो फिर इस जगत् को जानने वाला कौन रहेगा क्योंकि सभी कुछ इस अन्तःकरण के द्वारा ही तो जाना जाता है। जब अन्तःकरण ही नहीं है तो संसार के विभिन्न रूपों को कौन जानेगा फिर बाह्य रूपों की सत्ता भी कैसे सिद्ध होगी? बाह्य रूपों के न रहने पर वह साधक निर्विकल्प अवस्था में प्रविष्ट हो जायगा। इससे संसार के विकल्पों के कारण वह संसार में भटक रहा है इन विकल्पों के अभाव में वह अपने ही आत्मस्वरूप में प्रविष्ट हो जायगा।

यही उसका वास्तविक स्वरूप है जिसे प्राप्त कर वह शिवरूप ही हो जाता है।

(धारणा-७०)

माया विमोहिनी नाम कलायाः कलनं स्थितम् ।
इत्यादिधर्मं तत्त्वानां कलयन्न पृथग् भवेत् ।।९३।।

व्याख्या—वेदान्त, सांख्य तथा तन्त्र की शब्दावली में थोड़ा अन्तर है। वेदान्त कहता है कि मायातत्त्व से मोहित होकर जीव एक दूसरे को भिन्न समझने लगता है। भेद दृष्टि का विस्तार करना माया का धर्म है। अन्यथा चेतन तत्त्व तो सबमें समान रूप से विद्यमान है। सांख्य दर्शन कहता है कि प्रकृति और पुरुष के विवेक ज्ञान से कैवल्य का आविर्भाव होता है। तन्त्र कला की बात कहता है कि कला का धर्म कुछ करना है तथा विद्यातत्व का धर्म कुछ जानना है। जब योगी इन सभी तत्त्वों पर विचार करता है तो उसकी स्थिति इनसे भिन्न नहीं हो सकती। किन्तु इन सबका विवेक करने पर वह अभेद ज्ञान से युक्त हो जाता है। उसकी भेददृष्टि समाप्त होकर वह अपने चैतन्य स्वरूप में स्थित हो जाता है। यही अद्वैत की स्थिति है। इस प्रकार अद्वैत की धारणा करके योगी विभेदक तत्त्वों से अलग होकर कैवल्य स्वरूप को प्राप्त कर लेता है वह स्वात्म स्वरूप में प्रतिष्ठित हो जाता है। जब तक योगी अपने वास्तविक स्वरूप को नहीं जान लेता तब तक उसे भिन्नता ही ज्ञात होती रहेगी जिसका कारण उसका मन ही है जो मायाशक्ति से प्रभावित रहता है।

(धारणा-७१)

झगितीच्छां समुत्पन्नामवलोक्य शमं नयेत् ।
यत एव समुद्भूता ततस्तत्रैव लीयते ।।९४।।

व्याख्या—यह चेतन तत्त्व ही निज का स्वरूप है जिसमे कोई कामना, वासना आदि नहीं है। वह शुद्ध चैतन्य स्वरूप है किन्तु माया शक्ति के क्षोभ के कारण उसमें विभिन्न प्रकार की इच्छाएँ उत्पन्न होती रहती हैं। इन इच्छाओं में मुख्य है पुत्र, धन तथा यशप्राप्ति की इच्छाएँ। साधक जब अन्तर्मुखी हो जाता है तो उसे अपने आत्मस्वरूप का ज्ञान हो जाता है तथा यह भी ज्ञात हो जाता है कि ये इच्छाएँ आत्मा से नहीं बल्कि मन के कारण पैदा हो रही हैं। ऐसा जानकर उन्हें वहीं रोक दें। इनको अविद्या मान लें जिससे सारी इच्छाएँ शान्त हो जाती हैं। जिस प्रकार समुद्र के शान्त होने पर लहरें उठना बन्द हो जाती हैं उसी प्रकार मन के शान्त होने पर उसमें वृत्तियाँ उठती ही नहीं हैं जिससे वे मन में ही पुनः विलीन हो जाती हैं। ये वृत्तियाँ जब विलीन हो जाती हैं तो केवल वह स्वात्मस्वरूप ही शेष रह जाता है जिससे योगी ब्रह्म ही हो जाता है। ये सारी इच्छाएँ, वासनाएँ आदि केवल मन की ही उपज हैं। मन के शान्त होने पर योगी आत्मस्वरूप ही हो जाता है।

(धारणा-७२)

यदा ममेच्छा नोत्पन्ना ज्ञानं वा कस्तदाऽस्मि वै ।
तत्त्वतोऽहं तथाभूतस्तल्लीनस्तन्मना भवेत् ।।९५।।

व्याख्या—इच्छाएँ मन से ही जाग्रत होती हैं। इन्हीं इच्छाओं की पूर्ति हेतु कर्म होते हैं तथा कर्मों को भोगने के लिए ही बार-बार जन्म धारण करना पड़ता है। यदि इच्छा ही न उठे तो कर्म भी नहीं होंगे तथा इच्छा व कर्मों के न होने से मन का कोई कर्म ही नहीं रहेगा तथा मन के न रहने पर मेरा स्वरूप क्या होगा? मनुष्य मन को ही अपना स्वरूप समझता है किन्तु मन के न रहने पर ज्ञान व कर्म तो नहीं होंगे किन्तु वह आत्मा तो विद्यमान रहेगी ही तथा मनुष्य का वही तो वास्तविक स्वरूप है जिसे भूलकर वह मन को ही अपना स्वरूप मान बैठा था। अतः साधक को सदा इसी की भावना करनी चाहिए कि मैं मन, बुद्धि, ज्ञान, क्रिया, इच्छा, रूप नहीं बल्कि चैतन्य मात्र हूँ जो आनन्दस्वरूप है। इस भावना से वह चिदानन्द स्वरूप में ही लीन हो जाता है, वह वही हो जाता है।

(धारणा-७३)

इच्छायामथवा ज्ञाने जाते चित्तं निवेशयेत् ।
आत्मबुद्धयाऽनन्यचेतास्ततस्तत्त्वार्थदर्शनम् ।।९६।।

व्याख्या—इच्छा, ज्ञान और क्रिया ये सभी मन के धर्म हैं। मन के रहते ये तीनों विद्यमान रहेंगे ही। जगत् का सारा स्वरूप इसी का विस्तार है। इन्हीं से चित्त में अनेक वृत्तियाँ उठती हैं जिनसे संसार के सभी सुख दुख प्राप्त होते हैं। अतः ये तीनों ही संसार का मूल हैं। इन्हीं में धारणा को स्थिर करके जान लेना चाहिए कि ये मेरा वास्तविक स्वरूप नहीं है। मैं तो आत्मा हूँ, चैतन्यस्वरूप हूँ तथा यह आत्मा ही ब्रह्म है, अयमात्मा ब्रह्म। ऐसी भावना दृढ़ हो जाने पर योगी को परमार्थ तत्त्व का ज्ञान हो जाता है कि मैं वही हूँ।

(धारणा-७४)

निर्निमित्तं भवेज्ज्ञानं निराधारं भ्रमात्मकम् ।
तत्त्वतः कस्यचिन्नैतदेवंभावी शिवः प्रिये ।।९७।।

व्याख्या—भगवान् भैरव यहाँ फिर भैरवी से कहते हैं कि हे प्रिये! संसार में ये जितने भी पदार्थ दिखाई देते हैं वे सभी भ्रमात्मक हैं जो भ्रम के कारण ही सत्य जैसे भासते हैं जिनकी कोई वास्तविकता सत्ता नहीं है। ये न पहले थे, न बाद में ही रहेंगे। ये सभी बनते-बिगड़ते रहते हैं इसलिए इनको सत्य मान लेना भ्रम ही है। सत्य तो वही है जो शाश्वत है। जो सदा से है व सदा रहेगा। वही इन सबका आधार है अतः वही सत्य है। इन जागतिक पदार्थों का कोई हेतु भी नहीं है कि ये क्यों बनें व इनके निर्माण का उद्देश्य क्या है। ये सभी निर्निमित है। ये सभी माया के कारण उत्पन्न हैं अन्यथा सभी कुछ चैतन्य ही है, उससे भिन्न किसी की सत्ता नहीं है। भ्रमवश ही इनकी सत्ता को स्वीकार कर लिया जाता है अन्यथा यह मिथ्या कल्पना मात्र है। ऐसा ज्ञान होने पर साधक स्वयं शिवरूप ही हो जाता है क्योंकि वह भी उस चैतन्य शिव का ही एक रूप मात्र है। सत्ता तो चैतन्य की ही है अन्य सभी उसके विभिन्न रूप मात्र हैं।

(धारणा-७५)

चिद्धर्मा सर्वदेहेषु विशेषो नास्ति कुत्रचित् ।
अतश्चयं तन्म सर्वं भावयन् भवजिज्जनः ।।९८।।

व्याख्या—सभी प्राणी चित् धर्म वाले हैं अर्थात् यह चेतन तत्त्व सभी प्राणियों में विद्यमान है। चींटी से लेकर हाथी तक सभी प्राणियों के शरीरों में वही एकमात्र चेतनतत्त्व है जिससे सभी प्राणी जीवित रहते हैं। इस चेतनतत्त्व में कोई भिन्नता नहीं है कि छोटे जानवरों में अलग चेतना होती है बड़ों में अलग तथा मनुष्यों में अलग। चेतना चेतना में कोई भिन्नता नहीं होती अतः यह कहा जा सकता है कि सभी प्राणी चेतनस्वरूप ही हैं। शरीरों की भिन्नता से चेतन में भिन्नता नहीं आती। यह चेतनतत्त्व ब्रह्म ही है इसलिए यह कहा जा सकता है कि सभी प्राणियों में वही ब्रह्म विद्यमान है। साधक को इसी कारण इसी की भावना करना चाहिये कि सभी कुछ चैतन्य ही है तथा चैतन्य से भिन्न किसी की सत्ता नहीं है। ऐसी भावना करने से उसे अद्वैत का अनुभव हो जाता है तथा इसी अनुभव के कारण वह संसार सागर से तर जाता है। यह द्वैत भाव ही संसार में भटकाता रहता है तथा यही सभी दुखों, रोग, शोक का कारण बनता है। यह चैतन्य तत्त्व प्राणियों में ही नहीं

स्थावर जंगम आदि सभी मूर्तियों में समान रूप से विद्यमान है। अज्ञानी व्यक्ति इस चेतना को भी सबमें भिन्न-भिन्न मानते हैं तथा कुछ व्यक्ति ही नहीं बल्कि कुछ धर्म तो प्रत्येक मनुष्य की आत्मा (चेतना) को भी भिन्न भिन्न मानते हैं। यही अज्ञान अवस्था है। अन्तःकरण भिन्न-भिन्न है आत्मा नहीं।

(धारणा-७६)

कामक्रोधलोभमोहमदमात्सर्यगोचरे ।
बुद्धिं निस्तिमितां कृत्वा तत्तत्त्वमवशिष्यते ।।९९।।

व्याख्या—यह मन ही वासनाग्रस्त है। वासना इसका निज धर्म है। वासना के कारण ही इसका जन्म व पुनर्जन्म होता है तथा वासना पूर्ति के लिये ही यह नाना प्रकार के षडयन्त्र करता रहता है। इसकी सारी वृत्तियाँ वासनापूर्ति के कारण ही बनती हैं तथा इन्हीं के कारण वह जीवन में कभी सुख से जीवनयापन नहीं कर सकता। ये काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद तथा मात्सर्य इसकी वासनापूर्ति के ही औजार हैं जिनका उपयोग करके वह अपनी वासना की पूर्ति करता है। यदि मन में कोई वासना ही नहीं है तो वह इस जंजाल में उलझेगा ही नहीं। वह शान्तावस्था में अपना जीवनयापन करेगा। ऐसा व्यक्ति ही ईश्वर के समीप होता है।

अन्य धर्म इन काम, क्रोध, लोभ, मोह, लालच, ईर्ष्या, द्वेष आदि छोड़ने की बात करते हैं किन्तु ये सब वासना के कारण होते हैं जो मनुष्य का वास्तविक स्वरूप नहीं है। यदि अपने वास्तविक स्वरूप का ज्ञान हो जाय तो वासना का उदय होगा ही नहीं। अतः अपने वास्तविक स्वरूप को ही जानने का प्रयत्न करना चाहिये। इसके लिए तन्त्र इस नई विधि की बात कहता है कि इन काम, क्रोध आदि में चित्त की वृत्तियाँ ही हैं। इनमें से जो उत्कट चित्तवृत्ति है उसमें अपनी धारणा को स्थिर करें। उसको देखते रहें एक में धारणा के स्थिर हो जाने पर अन्य वृत्तियाँ दब जायेंगी तथा क्षीण हो जायेंगी। इसके बाद साधक को अपने आत्मस्वरूप के चिन्तन में लग जाना चाहिये जिससे यह वृत्ति भी शान्त हो जायेगी। अच्छा प्राप्त होने पर ही बुरा छूटता है। बुरे को सीधा नहीं हटाया जा सकता। अतः साधक को अपने वास्तविक स्वरूप को जानने का ही प्रयत्न करना चाहिये तभी इन वृत्तियों से छुटकारा मिल सकता है। जिस प्रकार कछुआ अपने अंगों को भीतर समेट लेता है उसी प्रकार वह योगी इन सभी वृत्तियों को अपने भीतर समेटकर सुखी होता है। जब साधक का बोध जाग्रत हो जाता है तो बाह्य विषयों से उसका सम्पर्क टूट जाता है तभी उस का स्वात्मस्वरूप प्रकट होता है।

(धारणा-७७)

इन्द्रजालमयं विश्वं न्यस्तं वा चित्रकर्मवत् ।
भ्रमद्वा ध्यायतः सर्वं पश्यतश्च सुखोद्गमः ।।१००।।

व्याख्या—जिसे सत्य का ज्ञान नहीं है वे असत्य को ही सत्य मानकर संसार में जी लेते हैं किन्तु जिन्हें सत्य का ज्ञान हो गया वे कभी असत्य को स्वीकार नहीं कर सकते। जिनको अपने आत्मतत्त्व का ज्ञान हो गया जिन्होंने सृष्टि के शाश्वत तत्त्व को जान लिया वे इस जगत् के सत्यस्वरूप को स्वीकार नहीं कर सकते जिन्हें उच्च का ज्ञान नहीं वे निम्न स्थिति को ही स्वीकार करने को बाध्य होते हैं। अतः ज्ञानियों और अज्ञानियों की दृष्टि में अन्तर तो रहता ही है जिन्होंने उस परमतत्त्व को नहीं जाना वे इस संसार को ही सत्य

मानकर भोगों में ही लिप्त रहते हैं किन्तु जिन्होंने उस परमतत्त्व को जान लिया कि वही एकमात्र सत्य तत्त्व है, अन्य सभी भ्रमवश ही सत्य जैसे भासते हैं जिनमें कोई सार नहीं है। यह दृष्टिभ्रम मात्र है। जिस प्रकार एक जादूगर चित्र विचित्र वस्तुएँ दिखाता है जो वास्तव में दिखाई तो देती है किन्तु सत्य नहीं होती। भ्रमवश ही दिखाई देती हैं। ज्ञानी की दृष्टि में यह संसार भी ऐसा ही भ्रमस्वरूप है जो सत्य जैसा भासता है किन्तु वैसा है नहीं। अज्ञानी के इसे सत्य मान लेने से यह सत्य नहीं हो जाता। यह इन्द्रजाल के समान ही सत्य जैसा दिखाई देता है। ज्ञान होने पर यह मिथ्या ही सिद्ध होता है। जिस प्रकार किसी पर्दे पर चित्र विचित्र दृश्य बने होते हैं किन्तु वास्तव में वे सत्य नहीं होते। जिस प्रकार सिनेमा में पर्दे पर कई दृश्य दिखाई तो देते हैं किन्तु वे सत्य नहीं होते भ्रम पैदा करते हैं कि वे वास्तविक हैं ऐसा ही यह जगत् है। जिसे आत्मतत्त्व का ज्ञान हो गया वह उसी में अपने ध्यान को केन्द्रित कर उसके मन में सुख का आविर्भाव हो जाता है। वह फिर जगत् के मिथ्या भ्रम में नहीं पड़ता जिस प्रकार नाव में बैठे व्यक्ति को समीप के वृक्ष आदि चलते हुए ज्ञात होते हैं जो भ्रममात्र है वैसे ही ज्ञानी ही इस जगत् को मिथ्या कह सकता है जिसे अज्ञानी सत्य मान बैठा है।

(धारणा-७८)

न चित्तं निक्षिपेद् दुःखे न सुखे वा परिक्षिपेत् ।
भैरवि ज्ञायतां मध्ये किं तत्त्वमवशिष्यते ।।१०१।।

व्याख्या—यहाँ भगवान् शिव फिर भैरवी से कहते हैं कि हे भैरवी! ये सुख और दुःख सभी अन्तःकरण अथवा मन के धर्म हैं। सुख दुःखों का अनुभव केवल मन का होता है जिसका कारण मन की वासना ही है। वासना की पूर्ति होने पर यह मन सुखी होता है तथा पूर्ति न होने पर यह दुःखी होता है। इन दोनों के मध्य में जो चेतन तत्त्व है उसे इन सुख दुःखों का अनुभव नहीं होता। अतः सुख दुःख के विषय में न सोचकर अपेन चित्त को दोनों के मध्य जो चेतन तत्त्व है उसमें स्थापित करें जो इन दोनों का साक्षी है। योगी को इसी चैतन्यतत्त्व में अपने ध्यान को केन्द्रित कर देना चाहिए। इसी एकाग्रता से योगी को भैरव स्वरूप की अभिव्यक्ति हो जाती है।

(धारणा-७९)

विहाय निजदेहास्थां सर्वत्रा स्मीति भावयन् ।
दृढ़ेन मनसा दृष्टया नान्येक्षिण्या सुखी भवेत् ।।१०२।।

व्याख्या—मनुष्य को केवल अपने ही शरीर में आस्था रहती है कि मैं ही हूँ तथा दूसरा मेरे से भिन्न है। ऐसी भावना केवल शरीरों को देखकर होती है जो अपने आत्म स्वरूप को नहीं जानते इसलिए उनमें मैं भाव पैदा होता है कि मैं ही सब कुछ हूँ। यह मैं भाव ही राग, द्वेष, सुख दुःख आदि सबका कारण बन जाता है। इस मिथ्या धारणा का त्याग कर साधक को यह सोचना चाहिये कि मैं शरीर मात्र नहीं बल्कि उसमें स्थित चैतन्य आत्मा हूँ जो सभी प्राणियों के शरीरों में समान रूप से व्याप्त है। वही मेरा वास्तविक स्वरूप होने से सर्वत्र मैं ही हूँ। मेरे से भिन्न कुछ भी नहीं है। इस भावना का अभ्यास करे। संशयरहित चित्त से इसका दृढ़ अभ्यास करके अपने इस चैतन्य स्वरूप में स्थिर हो जाय तथा अन्य को अपने से भिन्न मानने की झूठी प्रतीति से मुक्त हो जाय तो इसी धारणा से योगी सुखी हो सकता है। जब तक व्यक्ति अपने को सबसे भिन्न मानता रहेगा। तब तक

वह सौ जन्म में भी सुखी नहीं हो सकता।

(धारणा-८०)

घटादौ यच्च विज्ञानमिच्छाद्यं वा ममान्तरे ।
नैव सर्वगतं जातं भावयन्निति सर्वगः ।।१०३।।

व्याख्या—बाह्य जगत् में जो भी घट आदि पदार्थ दिखाई देते हैं वे सदा सर्वत्र सभी अवस्थाओं में दिखाई देते हैं तथा मैं इसे देखता हूँ ये दोनों विचार ही भ्रामक हैं। ये सभी विचार मन से ही पैदा होते हैं जिनका चेतना से कोई सम्बन्ध नहीं है। मन ही विभिन्न प्रकार की कल्पनाएँ करता रहता है जिनका अधिक मूल्य नहीं होता। अतः वे सब निःसार हैं। मन की कल्पना को सत्य मान लेने का कोई औचित्य नहीं है। अतः इनकी शून्यरूप में भावना करने पर योगी सर्वत्र व्याप्त हो जाता है अर्थात् वह स्वात्मा में ही प्रतिष्ठित हो जाता है। जब तक वह बाह्य पदार्थों को ही सत्य मानता रहेगा तब तक उसे सत्य का बोध नहीं हो सकता।

(धारणा-८१)

ग्राह्यग्राहकसंवित्तिः सामान्या सर्वदेहिनाम् ।
योगिनां तु विशेषोऽयं सम्बन्धे सावधानता ।।१०४।।

व्याख्या—संसार के सभी प्राणी इस बात को जानते हैं कि कौन सी वस्तु ग्राह्य है अर्थात् ग्रहण करने योग्य है तथा उसका ज्ञान जिसे होता है वही उसका ग्राहक होता है, उसे ग्रहण करता है। जो वस्तु ग्राह्य नहीं है उसे कोई भी ग्रहण नहीं करता। इसमें ज्ञान में कोई भेद नहीं है क्योंकि सभी का ज्ञान एक समान है। वह वस्तु के सत्यासत्य का निर्णय न करके उसकी उपयोगिता को ही देखकर उसे ग्रहण करता है। सभी की एक ही दृष्टि रहती है किन्तु इसमें योगियों की ही विशेषता है कि वे ग्राह्य और ग्राहक के सम्बन्धों के प्रति अधिक सावधान रहते हैं। वे सत्य और असत्य में भेद कर देते हैं। वे समझते हैं कि मैं वह प्रकाशस्वरूप चैतन्य हूँ तथा मेरे से भिन्न जो कुछ भी ज्ञेय है वे सभी अनित्य हैं जो असत् है। इसी भावना का ध्यान रखकर वे किसी ग्राह्य वस्तु को ग्रहण करते हैं। उसे सदा सत् व असत् वस्तु का ज्ञान बना रहता है।

(धारणा-८२)

स्ववदन्यशरीरेऽपि संवित्तिमनुभावयेत् ।
अपेक्षां स्वशरीरस्य त्यक्त्वा व्यापी दिनैर्भवेत् ।।१०५।।

व्याख्या—यह चेतन तत्त्व एक ही है जो सभी प्राणियों के स्थूल शरीरों में समान रूप से व्याप्त है। यही चेतन तत्त्व सभी प्राणियों के ज्ञान का आधार है। यह ज्ञान शरीरों के माध्यम से ही प्रकट होता है। साधक को ऐसी भावना करनी चाहिये कि जो चेतना मेरे शरीर में है वही चेतना दूसरे व्यक्ति के शरीर में भी व्याप्त है, दोनों में कोई भेद नहीं है। इस प्रकार के विचार को दृढ़ करें। मनुष्य शरीर नहीं बल्कि आत्मस्वरूप ही है अतः सभी आत्माएँ मेरा ही स्वरूप है, मेरे से भिन्न कुछ भी नहीं है, 'सब मेरा ही रूप है' ऐसी भावना दृढ़ हो जाने पर वह अपने शरीर से मोह नहीं करता। यही विदेह मुक्ति की स्थिति है। इस स्थिति के प्राप्त होने पर वह सभी शरीरों को अपना ही मानता है उनमें भेद नहीं करता। उसमें परकाया प्रवेश की सिद्धि प्राप्त हो जाती है जिससे वह अपनी आत्मा को किसी जीवित अथवा मृत व्यक्ति के शरीर में प्रवेश कर उन भोगों को भोग सकता है। यदि

उसकी आत्मचेतना को किसी जीवित व्यक्ति के शरीर में प्रविष्ट करा देता है तो उसमें सबको अपने वश में कर लेने का सामर्थ्य प्राप्त हो जाता है, यह उसकी वशीकार सिद्धि है तथा जिस वस्तु की चाह उसके मन में पैदा होती है वह पूरी हो जाती है। जब एक आत्मा किसी दूसरे के जीवित शरीर में प्रवेश कर जाती है तो वह उससे अपनी इच्छानुसार कार्य करवा लेती है। ऐसी उच्च आत्माएँ निम्न श्रेणी की आत्माओं में ही प्रविष्ट हो सकती है। दुष्ट आत्माएँ दुष्ट श्रेणी के व्यक्तियों में ही प्रविष्ट होकर उनसे दुष्ट कार्य करवाती हैं। किसी मृत व्यक्ति के शरीर में प्रविष्ट होकर योगी उसके भोगों को भी भोग सकता है। शंकराचार्य का उदाहरण है कि उन्होंने राजा अमरूख के शरीर में प्रविष्ट होकर काम को भोगा था।

शकराचार्य का जीवन वृत्त—शंकर दिग्विजय

लेखक : नन्दलाल दशोरा उपलब्ध है।

भाव यह है कि जिस योगी को अपने शरीर की अपेक्षा को छोड़ देने पर वह सभी शरीरों को अपना ही स्वरूप समझ ले तथा ऐसी भावना दृढ़ हो जाय तो वह किसी भी दूसरे शरीर में प्रविष्ट होने की योग्यता प्राप्त कर लेता है। ऐसा योगी थोड़े ही दिनों में सर्वव्यापी हो जाता है। वह सभी सांसारिक दोषों से मुक्त हो जाता है। योगी को अपने शरीर की ममता छोड़ देनी चाहिए तभी वह सर्वव्यापक हो सकता है। शरीर के प्रति मोह रहने पर ही वह उसे नहीं छोड़ना चाहता अन्यथा कोई कष्ट नहीं होता।

(धारणा-८३)

निराधारं मनः कृत्वा विकल्पान्न विकल्पयेत् ।
तदात्मपरमात्मत्वे भैरवो मृगलोचने ।।१०६।।

व्याख्या—भगवान् भैरव यहाँ भैरवी से कहते हैं कि हे मृगनयनी! मनुष्य किसी न किसी आलम्बन को पकड़कर ही जीवित रहता है। बिना किसी आलम्बन या सहारे के वह रह ही नहीं सकता। यह आलम्बन ही उसका बन्धन बन जाता है। निरालम्ब होने में उसको भय लगता है किन्तु यहाँ भैरव भैरवी से कहते हैं कि यह आलम्बन ही जीवात्मा का स्वरूप है अतः इन सभी आलम्बनों का त्यागकर मन को निरालम्ब कर देना चाहिए। फिर मन में किसी भी प्रकार के संकल्प विकल्प नहीं उठने देना चाहिए। ऐसी स्थिति बन जाने पर फिर जो शेष बच रहता है वही चैतन्यस्वरूप भैरव है। जब मन में संकल्प विकल्प उठते रहते हैं वही जीवभाव है तथा निर्विकल्प दशा ही ब्रह्मभाव है। अतः साधक को चाहिये कि सभी विकल्पों का परित्याग कर ब्रह्मभाव में, परभैरव स्वरूप में समाविष्ट होने के लिए सतत् इस धारणा का अभ्यास करता रहे।

(धारणा-८४)

सर्वज्ञः सर्वकर्ता च व्यापकः परमेश्वरः ।
स एवाहं शैवधर्मा इति दाढर्याच्छिवो भवेत् ।।१०७।।

व्याख्या—इस श्लोक में धारणा के लिये बताया गया हे कि साधक ही यह धारणा दृढ़ होनी चाहिये कि वह परमेश्वर शिव सर्वज्ञ है सभी कुछ जानने वाला है वही सर्वकर्ता है अर्थात् सृष्टि में जितनी भी क्रियाएँ हो रही हैं उसका कर्ता वही है तथा वही सर्वव्यापक है। सृष्टि के कण-कण में वही व्याप्त है। ऐसा कोई पदार्थ नहीं जिसमें वह न हो। वही शिवधर्म वाला मैं हूँ अर्थात् ये सभी धर्म स्वात्मरूप से मेरे में विद्यमान हैं अतः मैं भी उसी शिवरूप वाला हूँ। ऐसी दृढ़ भावना करने पर साधक स्वयं शिवरूप ही हो जाता है।

(धारणा-८५)

जलस्येवोर्मयो वह्नेर्ज्वालाभङ्ग्यः प्रभा रवेः ।
ममैव भैरवस्यैता विश्वभङ्ग्यो विभेदिताः ।।१०८।।

व्याख्या—इस श्लोक में धारणा की एक अन्य विधि बतायी गयी है कि जिस प्रकार जल में लहरें जल से भिन्न नहीं हैं जिस प्रकार अग्नि की ज्वाला अग्नि से भिन्न नहीं है तथा जिस प्रकार सूर्य का प्रकाश सूर्य से भिन्न नहीं है उसी प्रकार यह विश्व शिव से भिन्न नहीं है बल्कि उसी के विभिन्न रूपमात्र हैं। उसी प्रकार मैं भी भैरव स्वरूप ही होने से ये सभी विविधताएँ मेरे से ही प्रकट हो रही हैं। ऐसा निश्चय दृढ़ हो जाने पर साधक पूरे विश्व को अपना ही स्वरूप मानने लग जाता है। भिन्नता की जो प्रतीति अज्ञानवश है वह सब मिट जाती है तथा वह स्वयं शिवरूप ही हो जाता है।

(धारणा-८६)

भ्रान्त्वा भ्रान्त्वा शरीरेण त्वरितं भुवि पातनात् ।
क्षोभशक्तिविरामेण परा संजायते दशा ।।१०९।।

व्याख्या—यहाँ धारणा की एक और विधि बतायी गयी है कि अपने ध्यान को केन्द्रित करने के लिए इसका उपयोग करे। जिस प्रकार बालक चक्करघानी खाते समय तेजी से घूमता है उसी प्रकार साधक अपने शरीर को तेजी से घुमावे तथा घूमते घूमते वह अपने शरीर को पृथ्वी पर गिरा दे। उस समय उसे सब कुछ घूमता हुआ नजर आयगा तथा थोड़ी देर के बाद उसे एक विचित्र शान्ति का अनुभव होगा। यह एक प्रकार की निर्विकल्प अवस्था है। इस स्थिति में अपनी धारणा को स्थिर करने पर साधक को अपने आत्मस्वरूप की अनुभूति हो जाती है।

(धारणा-८७)

आधारेष्वथवाऽशक्त्या ऽज्ञानाच्चित्तलयेन वा ।
जातशक्तिसमावेशक्षोभान्ते भैरवं वपुः ।।११०।।

व्याख्या—जो ज्ञान के आधारभूत पदार्थ हैं, जिनसे ज्ञान प्राप्त हो सकता है अर्थात् आत्म चेतना को जाना जा सकता है उनमें ध्यान को केन्द्रित करने में असमर्थता के कारण यह ध्यान अन्य पदार्थों में जाता है जो अज्ञान का कारण है जिससे शरीर में चंचलता बनी रहती है व उसी से क्षोभ होता है। उसमें विराम लग जाने पर साधक को भैरवस्वरूप की प्राप्ति हो जाती है। उसमें आनन्ददायक अवस्था का आविर्भाव हो जाता है। भाव यह है कि जब तक व्यक्ति को अपने वास्तविक स्वरूप आत्मा का ज्ञान नहीं हो जाता तभी तक वह अज्ञानजनित संसार के विषयों में भटकता रहता है। इस भटकाव में जब विराम लग जाता है तभी उसका चित्त आत्मा में स्थिर होता है। जब तक मन विषयों में ही भटकता रहता है तब तक आत्मज्ञान की कोई सम्भावना नहीं रहती। अज्ञान के कारण ही वह विषयों में भटकता रहता है।

(धारणा-८८)

सम्प्रदायमिमं देवि शृणु सम्यग् वदाम्यहम् ।
कैवल्यं जायते सद्यो नेत्रयोः स्तब्धमात्रयोः ।।१११।।

व्याख्या—मनुष्य को जब तक आत्मस्वरूप का ज्ञान नहीं हो जाता तब तक वह संसारी पदार्थों को ही सत्य मानकर उन्हीं के भोगों में लगा रहता है। जब तक किसी श्रेष्ठ

वस्तु का उसे ज्ञान नहीं हो जाता तब तक वह अश्रेष्ठ में ही सुख मानता रहता है। यही अज्ञान उसके सभी दु:खों का कारण बनता है। यह श्रेष्ठ वस्तु तो स्वयं की आत्मा ही है जिसको जानकर व्यक्ति परमानन्द की अवस्था को प्राप्त हो जाता है। फिर उसको तुच्छ वस्तुओं को भोगने की इच्छा ही समाप्त हो जाती है। महल मिल जाने पर झोंपड़े में रहना कौन पसन्द करेगा। उस परमतत्त्व को जानने की जिज्ञासा ईश्वरानुग्रह से कुछ ही व्यक्तियों में होती है तथा किसी सद्‌गुरु के मिलने पर वह उसे जानकर अपने जीवन को धन्य बना देता है। **इस विज्ञान भैरव ग्रन्थ में जो सभी धारणाएँ बताई गयी हैं उन पर अपना ध्यान केन्द्रित करने से उस आत्मस्वरूप को सहज ही जाना जा सकता है तथा उसे जानकर यह जीव शिव ही हो जाता है। वह शिव तो है ही उसे जानना मात्र है।**

इस श्लोक में भगवान् भैरव फिर भैरवी से कहते हैं कि हे देवी! मैं उस धारणा की परम्परा का तुम्हें उपदेश कर रहा हूँ जिसका कि सही पद्धति से अभ्यास करने पर साधक अपने नेत्रों को विषयों की ओर से समेटकर अपने ध्यान को एकाग्र करके इस सारे जगत् के प्रपंच के भेद व अभेद रूपों को भूलकर अपनी अन्तरात्मा की ओर दृष्टि फेर लेने पर योगी तत्काल कैवल्य को प्राप्त हो जाता है वह किस भी परिस्थिति में हो वह अपने स्वात्म स्वरूप में प्रतिष्ठित हो जाता है यह सब मन की एकाग्रता से ही सिद्ध होती है। चित्त की एकाग्रता के बिना इस जगत् में श्रेष्ठता की कभी प्राप्ति नहीं हो सकती तथा इस एकाग्रता से ईश्वर तक की प्राप्ति भी असम्भव नहीं है।

(धारणा-८९)

कूपादिके महागर्ते स्थित्वोपरि निरीक्षणात् ।
अविकल्पमतेः सम्यक् सद्यश्चित्तलयः स्फुटम् ।।११२।।

व्याख्या—चित्त को एकाग्र करने की एक विधि यह भी है कि किसी गहरे कूप, खड्ढ आदि के पास खड़े होकर उसके नीचे देखें अथवा पर्वत के ऊँचे शिखर पर खड़े होकर ऊपर की ओर देखते रहने से एक अज्ञात भय की कल्पना होती है जिससे शरीर रोमांचित हो उठता है तथा चित्त निर्विकल्प स्थिति में प्रविष्ट हो जाता है। मन में अन्य किसी प्रकार की कल्पना नहीं उठती। जब उसका चित्त इस निर्विकल्प दशा में पहुँच जाता है तो एक क्षण के लिये उसे बड़ी शान्ति का अनुभव होता है इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है। इस शान्त अवस्था में किसी भी पदार्थ की सत्ता नहीं रह जाती जिससे उसका भैरव स्वरूप ही भासित होने लगता है जिससे शिव का शान्त स्वरूप अभिव्यक्त हो जाता है।

(धारणा-९०)

यत्र यत्र मनो याति वाह्ये वाऽऽभ्यन्तरेप्रिये ।
तत्र तत्र शिवावस्था व्यापकत्वात् क्व यास्यति ।।११३।।

व्याख्या—भगवान् भैरव यहाँ फिर भैरवी से कहते हैं कि हे प्रिये! यह सम्पूर्ण सृष्टि शिव के प्रकाश से ही प्रकाशित है अतः सब शिव स्वरूप ही है। शिव से भिन्न कुछ भी नहीं है। वही शिव सृष्टि के विभिन्न रूपों में प्रकाशित हो रहा है। यह शिव और शक्ति, जड़ और चेतन, प्रकृति और पुरुष दो भिन्न तत्त्व नहीं हैं बल्कि एक ही परमतत्त्व के दो रूपमात्र हैं। भिन्नता की प्रतीति अज्ञान के कारण ही होती है। जब उसे प्रत्यक्ष कर लिया जाता है तो यह अज्ञातजनित भ्रान्ति मिटकर यह सम्पूर्ण जगत् शिव स्वरूप ही ज्ञात होने

लगता है। शिव से भिन्न कुछ भी नहीं है। इसलिए हे देवी! जहाँ जहाँ मन जाता है चाहे वह बाह्य पदार्थों में जावे अथवा स्वयं के भीतर के विषयों-में सुख, दुःख आदि में जावे सभी में उस चैतन्य स्वरूप शिव ही प्रकशित हो रहे हैं। ऐसी स्थिति में वह मन उसके सिवा ओर कहाँ जा सकता है। अर्थात् इस जगत् में शिव से भिन्न कुछ भी नहीं है। ऐसी कोई वस्तु या स्थान नहीं है जहाँ वह न हो। वेदान्त में तो यह मायातत्त्व है जो ईश्वर को परिच्छिन्न कर देता है किन्तु तन्त्र तो ऐसे किसी तत्त्व को स्वीकार ही नहीं करता जो उस शिव के प्रकाश को परिच्छिन्न कर दे। अतः सभी को शिवरूप ही समझकर धारणा का अभ्यास करने पर वह स्वात्मस्वरूप स्वयं ही प्रकाशित हो जाता है। इसमें मन को बाह्य वस्तुओं से खींचकर उसे अन्तरात्मा में लगाने की आवश्यकता नहीं है बल्कि जहाँ जहाँ मन जाता है वहीं उसे लगाकर उसी स्थिति में स्थिर कर देना चाहिये। वहीं शिवावस्था विकसित हो जायेगी। यही समाधि अवस्था है। जब चित्त अखण्ड आत्मा में, अद्वय स्वरूप ब्रह्म में स्थिर हो जाता है तो उस अवस्था को समाधि कहते हैं। योग ग्रन्थों में समाधि के भी कई भेद बताये गये हैं जैसे साविचार और निर्विचार, सवितर्क और निवितर्क, सम्प्रज्ञात ओर असम्प्रज्ञात, सविकल्प और निर्विकल्प तथा सबीज और निर्बीज आदि। इस निर्बीज समाधि को ही अन्तिम माना गया है।

(धारणा-९१)

यत्र यत्राक्षमार्गेण चैतन्यं व्यज्यते विभोः ।
तस्य तन्मात्र धमित्वाच्चिल्लयाद् भरितात्मता ।।११४।।

व्याख्या—जिस प्रकार आँख के द्वारा जो बाह्यपदार्थ दिखाई देते हैं अथवा भीतर सुख दुःख का जो अनुभव होता है वह सब उस आत्मस्वरूप चैतन्य के कारण ही ज्ञात होते हैं जो उसी सर्वव्यापक परभैरव के ही चैतन्य का प्रकाश है जो जगत् रूप में दिखाई देता है। अतः इस सम्पूर्ण जगत् को उस चैतन्य का प्रकाश ही मानना चाहिए। जिस प्रकार जल ही जमकर बर्फ का रूप ले लेता है अतः जल व बर्फ में कोई भेद नहीं है उसी प्रकार यह चैतन्य ही सृष्टि का रूप लेता है। इन पदार्थों का जो ज्ञान होता है वह भी चैतन्य के ही कारण होता है। यदि चैतन्य तत्त्व न हो तो इन सबको जानने वाला कौन रहेगा? अतः जो जानने वाला है तथा जो जाना जाता है वह सब उस चैतन्य से भिन्न नहीं है। ऐसी भावना करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि उस विभु के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है वही सब कुछ है। ऐसा विचार करते-करते साधक परमतत्त्व में लीन हो जाता है जिससे उसका यह परभैरव स्वरूप अभिव्यक्त हो जाता है। इस अवस्था में उसे यह बोध हो जाता है कि यह सारा विश्व मैं ही हूँ।

(धारणा-९२)

क्षुताद्यन्ते भये शोके गह्वरे वा रणाद् द्रुते ।
कुतूहले क्षुधाद्यन्ते ब्रह्मसत्ता समीपगा ।।११५।।

व्याख्या—मनुष्य उस चैतन्य स्वरूप आनन्द का ही स्वरूप है। आनन्द से भिन्न उसकी कोई सत्ता ही नहीं है किन्तु यह आनन्द इस जीवभाव के अज्ञान के कारण परिच्छिन्न हो गया है किन्तु कभी-कभी यह आनन्द स्वाभाविक रूप से अपने आप प्रकट हो जाता है। यदि आनन्द होता ही नहीं तो वह कहाँ से प्रकट होता। जैसे छींक आने के बाद अथवा भय, शोक आदि भावों के उत्पन्न होने पर गड्ढे में गिर पड़ने पर, युद्ध से भाग

जाने पर अथवा किसी आश्चर्यजनक घटना के घटने पर अथवा भूख प्यास आदि तीव्र संवेगों की निवृत्ति हो जाने पर मनुष्य को एक क्षण के लिये ब्रह्मानन्द सरीखे आनन्द का अनुभव होता है अतः ऐसे अवसरों का लाभ उठाकर उस आनन्द की स्थिति में जो लीन हो जाता है तो उसे उस चैतन्य स्वरूप का ज्ञान हो जाता है। जो प्रबुद्ध साधक है वह इसका लाभ उठाकर इस आनन्द में लीन हो जाता है किन्तु जो अप्रबुद्ध है वह इससे वंचित ही रहता है।

(धारणा-९३)

वस्तुषु स्मर्यमाणेषु दृष्टे देशे मनस्त्यजेत् ।
स्वशरीरं निराधारं कृत्वा प्रसरति प्रभुः ।।११६।।

व्याख्या—मनुष्य में कई प्रकार की स्मृतियाँ जागती रहती हैं। इन स्मृतियों का आधार पुराने अनुभव होते हैं। इन स्मृतियों को छोड़कर इनके जो आधार पुराने अनुभव हैं उन पर अपने ध्यान को केन्द्रित करना चाहिये कि इन अनुभवों का कारण क्या है ये सभी अनुभव उस चैतन्य के कारण ही होते हैं। चेतना के बिना शरीर को कोई अनुभव नहीं हो सकता। जिस प्रकार सर्प अपनी केंचुली को छोड़कर उसको फिर याद ही नहीं करता उसी प्रकार साधक को अपने शरीर के प्रति जो आस्था है उसका त्याग करके इन स्मृतियों के आधारभूत जो अनुभव है उन्हीं पर ध्यान केन्द्रित करने से उस चैतन्य स्वरूप का ज्ञान हो जाता है कि ये सभी अनुभव उस चैतन्य के कारण ही जीव को होते हैं। इस धारणा के अभ्यास से वह चैतन्य में ही प्रविष्ट हो जाता है।

(धारणा-९४)

क्वचिद्वस्तुनि विन्यस्य शनैर्दृष्टि निवर्तयेत् ।
तज्ज्ञानं चित्तसहितं देवि शून्यालयो भवेत् ।।११७।।

व्याख्या—यहाँ भैरव फिर भैरवी से कहते हैं कि हे देवी! जिस किसी पदार्थ को देखो तो इसका ध्यान रखो कि ये सब पदार्थ मन के संकल्प के कारण अथवा पूर्व के अनुभवों के आधार पर वासनाओं के कारण ही सत्य जैसे प्रतीत हो रहे हैं किन्तु वास्तव में ये शून्यरूप ही हैं जिनका कोई अस्तित्व ही नहीं है। ये सत्य जैसे भासते हैं जो भ्रममात्र हैं जब संकल्प, अनुभव व वासना का ही अभाव हो जाता है तो वह वस्तु किस आधार पर टिकी रह सकती है। वस्तु का स्वरूप इन तीनों—संकल्प, अनुभव व वासना के ही आधार पर टिका हुआ है अन्यथा वह शून्य स्वरूप ही है। ऐसी भावना करने पर साधक शून्य स्वरूप ही हो जाता है। वह मानने लग जाता है कि सारा विश्व शून्य स्वभाव ही है जो आकाश के समान रूपहीन हैं। इसका कोई स्वरूप नहीं है न इसका कोई अस्तित्व ही है। केवल अपने भीतर के शुद्ध चैतन्य का ही एकमात्र अस्तित्व है अन्य सभी भ्रम से ज्ञात होते हैं।

(धारणा-९५)

भक्त्युद्रेकाद् विरक्तस्य यादृशी जायते मतिः ।
सा शक्तिः शाङ्करी नित्यं भावयेत् तां ततः शिवः ।।११८।।

व्याख्या—जिस भक्त में भक्ति के उद्रेक से अर्थात् उसकी अधिकता से विरक्ति पैदा होकर मन शान्त हो गया है साधक का चित्त भक्त के चित्त में समाहित हो जाता है उसमें जिस तरह की बुद्धि उत्पन्न होती है वह शांकरी शक्ति कही जाती है अर्थात् ईश्वर के

अनुग्रह से भक्त के हृदय में ऐसी भावना पैदा हो जाती है कि वह सब कुछ भूलकर ईश्वर के चिन्तन में ही लगा रहता है भक्त की इस मानसिक दशा में अपने चित्त को लीन करने वाला साधक भी शिवमय हो जाता है।

(धारणा-९६)

वस्त्वन्तरे वेद्यमाने शनैर्वस्तुषु शून्यता ।
तामेव मनसा ध्यात्वा विदितोऽपि प्रशाम्यति ।।११९।।

व्याख्या—जब साधक को किसी एक वस्तु के चैतन्य स्वरूप होने का ज्ञान हो जाता है तो उसे उससे भिन्न अन्य वस्तुओं में भी इसका अभ्यास करना चाहिये जिससे उनमें भी शून्यता का बोध हो जाय। इस साधक में अभेद ज्ञान की प्रतीति हो जाती है कि सभी पदार्थ चैतन्यस्वरूप ही हैं। ऐसा ज्ञान होने पर उसका ब्रह्मस्वरूप प्रकट हो जाता है।

(धारणा-९७)

किञ्चिज्जैर्या स्मृता शुद्धिः साऽशुद्धिः शम्भुदर्शने ।
न शुचिर्ह्यशुचिस्तस्मान्निर्विकल्कः सुखी भवेत् ।।१२०।।

व्याख्या—धर्म शास्त्रकारों ने शरीर शुद्धि पर सर्वाधिक बल दिया है किन्तु परमेश्वर के वास्तविक स्वरूप का साक्षात्कार करने में यह शुद्धि सहायक नहीं होती अतः इसको अशुद्धि ही माननी चाहिये। तन्त्र शास्त्रों में इसे चित्त की निर्मलता में कारण नहीं माना है कि शरीर के शुद्ध हो जाने से चित्त भी शुद्ध हो जायगा। शरीर शुद्धि मन को पवित्र नहीं कर सकती इसलिए शैव शास्त्रों में इस तरह की शुद्धि को अशुद्धि ही माना है, यह वास्तविक शुद्धि नहीं है। शुद्ध मन ही ईश्वर का साक्षात्कार कर सकता है। शरीर की शुद्धि के बिना भी ईश्वर का साक्षात्कार किया जा सकता है।

मालिनी विजय तन्त्र में बताया गया है कि शुद्धि और अशुद्धि का विधान, भक्ष्य और अभक्ष्य का निरूपण, द्वैत या अद्वैत का उपदेश लिंग पूजा आदि का विधान या निषेध, निष्परिग्रह या सपरिग्रह होने का विधान, जटा भस्म आदि को स्वीकार या परित्याग व्रत आदि का आचरण करना या न करना, क्षेत्र संन्यास लेकर नियमों का पालन करना या न करना, तिलक आदि चिन्ह, नाम, गोत्र आदि को रखना या न रखना, जैसी बातों के बारे में पक्ष या विपक्ष में कुछ भी नहीं कहा जाता है ये सब साधक की इच्छा पर निर्भर है कि वह इनका आचरण करे या न करे। तत्त्वज्ञान में उनकी कोई उपयोगिता नहीं है। परमतत्त्व की प्राप्ति के लिए योगी को अपने चित्त को स्थिर करना चाहिये। जिस योगी का चित्त परमतत्त्व में स्थिर हो गया है यह विषयों का उपभोग करता हुआ भी उनके दोषों से उसी प्रकार लिप्त नहीं होता जैसे कि जल में रहते हुए भी कमल पत्र उससे निर्लिप्त रहता है। ये सब नियम संयम उनके लिए हैं जो व्यक्ति बहिर्मुख बना रहता है जिस प्रकार विष्टा से भरा घट ऊपर से चमचमाता हुआ भी पवित्र नहीं होता। उसी प्रकार बाहरी नियमों से मन पवित्र नहीं हो जाता। योगी इस नश्वर शरीर की चिन्ता नहीं करता। सभी स्नानों में मानस स्नान को ही सर्वोत्तम माना गया है। इसी से भगवत् प्राप्ति होती है। ये सब कर्मकाण्ड ज्ञान प्राप्ति में बाधक भी हैं। मनुष्य दिन रात इन्हीं में उलझा रहता है जिससे उसकी चित्त को स्थिर करने का अवसर ही नहीं मिलता।

(धारणा-९८)

सर्वत्र भैरवो भावः समान्येष्वपि गोचरः ।

न च तद्व्यतिरेकेण परोऽस्तीत्यद्वया गतिः ।।१२१।।

व्याख्या—सभी स्थानों में तथा सभी पदार्थों में इसे एक ही चैतन्यस्वरूप भैरव का ही स्पष्टरूप से भान होता है कि वही भाव स्वभाव वाला है तथा वही सत्स्वरूप है। उससे भिन्न किसी की सत्ता नहीं हो सकती। वही भाव स्वरूप है जो बौद्धों के शून्य जैसा नहीं है क्योंकि शून्य से सृष्टि की रचना नहीं हो सकती। इस बात को जो सामान्यजन है, जो विवेकहीन है वे भी स्पष्टरूप से जानते हैं। जो कहता है मैं जानता हूँ मैं करता हूँ तो यह मैं' भाव ही चैतन्य का स्वरूप है। चेतना के बिना कौन कह सकता है कि मैं हूँ। यह जो सृष्टि में सारा ज्ञान है वह उस चैतन्य के ही कारण है अन्यथा चैतन्य के बिना ज्ञान का कोई आधार ही नहीं है अतः यह सब कुछ चैतन्य के ही विभिन्न रूप मात्र हैं तथा चह चैतन्य ही एकमात्र सत् तत्त्व है, उससे भिन्न कुछ भी नहीं है। जिस साधक को ऐसा ज्ञान हो जाता है उसे अद्वैत ज्ञान की प्राप्ति हो जाती है। द्वैत भाव ही अज्ञान है जो सत्य नहीं है। अतः जिसे हम परमेश्वर कहते हैं वह अहं स्वरूप ही है। उस चैतन्य के बिना अहं कहने वाला और कौन सा तत्त्व है? अतः चैतन्य ही सब कुछ है। फिर उस चैतन्य को कहाँ खोजना है? जिस प्रकार सूर्य से ही सब प्रकाशित होते हैं सूर्य को कौन प्रकाशित कर सकता है। उसी प्रकार चेतन से ही सब जाने जाते हैं। चेतन को कौन जान सकता है? इस प्रकार निरन्तर विचार करते रहने वाला साधक स्वयं चेतनस्वरूप शिव ही हो जाता है जो स्वयं प्रकाश है। उस चैतन्य का जो स्वरूप आँखों के सामने है उसे खोजने में अन्य किस उपाय की आवश्यकता है?

(धारणा-९९)

समः शत्रौ च मित्रे च समो मानावमानयोः ।
ब्रह्मणः परिपूर्णत्वादिति ज्ञात्वा सुखी भवेत् ।।१२२।।

व्याख्या—जीवन में सुखी होने का एक ही राज है कि सभी में एक ही ब्रह्म की सत्ता को स्वीकार करना। यह भिन्नता वाली सभ्यता ही सभी दुःखों की जननी है। जिस संस्कृति में सदा भिन्नता की ही बातें कही जाती रही हैं उस संस्कृति से कोई न सुखी हो सका है न हो सकेगा। जहाँ भिन्नता है वहाँ राग, द्वेष, हिंसा, घृणा, वैमनस्य, लोभ, लालच, छीना-झपटी आदि अनेक दुष्कर्म होते ही रहेंगे। दुःखों का ही राग अलापते रहने से आज तक कोई सुखी नहीं हो सका है। लोगों में यह भ्रम फैलाया जा रहा है कि हमारे धर्म को मानकर तुम सुखी हो सकते हो, किन्तु ये सभी दुकानदार की भाषा है जो अपना घटिया माल बेचने का दुष्प्रचार मात्र करते रहे हैं। धर्म कोई मुनाफा कमाने की दुकान नहीं है।

जीवन में सुखी होने का एक ही राज है सर्वत्र अद्वैत की भावना। यह द्वैत ही एकमात्र दुःखों का कारण है। इस सम्पूर्ण सृष्टि में यदि कोई धर्म है तो वह एक ही है अद्वैत भाव। अन्य किसी भाव को धर्म की श्रेणी में नहीं रखा जा सकता।

इस श्लोक में इसी अद्वैत की बात कही गयी है कि शत्रु और मित्र में सम्मान करने वाले तथा अपमान करने वाले सभी प्राणियों में वह स्वात्मरूप ब्रह्म ही विद्यमान है अतः सभी में एकत्व है। यह भिन्नता की भ्रान्ति अज्ञान के कारण है जो सभी दुःखों का कारण है। ऐसा जानकर ही मनुष्य सुखी हो सकता है। गीता में भी कहा गया है कि विद्या और विनय से सम्पन्न ब्राह्मण में, गाय में, हाथी, में, कुत्ते में जो समान दृष्टि रखता है तथा साथ ही शत्रु और मित्र को भी एक ही भाव से देखता है तथा सम्मान मिलने पर तथा अपमान

होने पर भी जो हर्ष और विषाद में नहीं पड़ता वह सब तरह से सुखी हो जाता है वह परमानन्द से परिपूर्ण हो जाता है। वह यह जान लेता है कि सभी में एक ही चेतना व्याप्त है। शरीरों की भिन्नता तथा मन की भिन्नता से चेतना भिन्न नहीं हो जाती। मनुष्य चेतन ही है अतः भिन्नता की भावना ही अज्ञान है जिसको त्यागकर एकत्त्व को स्वीकार करना ही सुखी होने का उपाय है।

(धारणा-१००)

न द्वेषं भावयेत् क्वापि न रागं भावयेत् क्वचित् ।
रागद्वेषविनिर्मुक्तौ मध्ये ब्रह्म प्रसर्पति ।।१२३।।

व्याख्या—सुख दुःख का कारण मन है। यह मन ही वासना ग्रस्त है इसी में अनेक प्रकार की इच्छाएँ पैदा होती रहती हैं। यह सुख दुःख आभासमात्र है वास्तविक नहीं है। सुख दुःख की परिभाषा है 'अनुकूल वेदनीयं सुखम्, प्रतिकूल वेदनीयं दुखम्।' यह मन जो वस्तु अपने अनुकूल है उसमें सुख मान लेता है तथा जो अपने प्रतिकूल है उसको देखकर दुःखी होता है। यह सुख दुःख चेतना में नहीं होता। अपेक्षा के कारण ही राग और द्वेष होता है जिसकी कोई अपेक्षा ही नहीं, वही राग द्वेष से मुक्त रहता है। इस राग और द्वेष के मध्य ही उस चैतन्यस्वरूप ब्रह्म की स्थिति है। जब तक राग और द्वेष है तब तक ईश्वर प्राप्ति सम्भव नहीं है। इन दोनों के मध्य में जो स्थित हो गया है अर्थात न तो राग से प्रभावित है, न द्वेष से इन दोनों से मुक्त होकर जो ब्रह्म को ही अपना स्वरूप मान लेता है वही ब्रह्मस्वरूप में प्रतिष्ठित हो जाता है।

(धारणा-१०१)

यदवेद्यं यदग्राह्यं यच्छून्यं यदभावगम् ।
तत्सर्वं भैरवं भाव्यं तदन्ते बोधसम्भवः ।।१२४।।

व्याख्या—इस सृष्टि में एक ही ऐसा तत्त्व है जो इस समस्त दृश्यजगत् का मूल कारण है। कारण के बिना कोई कार्य नहीं होता। यदि घट एक कार्य है तो मिट्टी उसका कारण है। यदि सृष्टि है तो उसका कारणतत्त्व अवश्य होना चाहिये। शून्य से किसी की रचना नहीं हो सकती किन्तु इस दृष्टि का वह कारणतत्त्व अतिसूक्ष्म है जिसे ये स्थूल इन्द्रियाँ ग्रहण नहीं कर सकती। वह जानने में भी नहीं आता क्योंकि मनुष्य की बुद्धि की पहुँच वहाँ तक नहीं है। वह मन व बुद्धि से परे है। मन व बुद्धि स्थूल को ही देख व जान सकती है, सूक्ष्म उससे छूट जाता है, उसकी पकड़ में नहीं आता। बुद्धि का दम्भ करने वाले वहाँ जाकर हताश हो जाते हैं उन्हें कुछ भी हाथ नहीं लगता जिससे वे उसकी सत्ता से ही इन्कार कर देते हैं कि ऐसा कोई तत्त्व है ही नहीं। किन्तु वह है जिसके होने से इन्कार नहीं किया जा सकता। वही सत्तारूप में सर्वत्र विद्यमान है। वही परिपूर्ण सत्ता है। वह अति सूक्ष्म होने से उसे शून्य स्वरूप मान लिया गया है किन्तु वह शून्य अभावस्वरूप नहीं है बल्कि भावस्वरूप है। बुद्ध का शून्य अभावस्वरूप है किन्तु तन्त्र का शून्य वैसा नहीं है। वह सत्ता तत्त्व है उसी की सर्वस्वरूप भैरव के रूप में भावना करनी चाहिये। निरन्तर ऐसी भावना करते रहने से उसका सम्यक् बोध हो जाता है। इस पदार्थ को अवर्णनीय तथा अविज्ञेय होने से ही शक्ति मत में इसे शून्य कहा गया है अन्यथा यही परमसत्ता स्वरूप है ऐसी दृष्टि विकसित होने पर साधक स्वयं ब्रह्मस्वरूप हो जाता है यही बात जो तन्त्र में कही गयी है उसी को उपनिषद् व गीता में भी कही गयी है। तैत्तिरीय

उपनिषद् (३१४) में कहा गया है कि—

"जहाँ से मन और वाणी आदि सभी इन्द्रियाँ उसे न पाकर लौट आती हैं वह इस शरीर का भी आत्मा है।"

इसी उपनिषद् (३१६) में कहा गया है—

"आनन्द ही ब्रह्म है, इस प्रकार जान।"

कठोपनिषद् (२/२/१५) में कहा गया है—

"जहाँ सूर्य प्रकाशित नहीं होता चन्द्रमा और तारे भी नहीं चमकते और न विद्युत ही चमकती

है, फिर उस अग्नि की तो बात ही क्या है? उसके प्रकाशमान होते ही सब कुछ प्रकाशित हो जाते हैं और उसके प्रकाश से ही सब कुछ भासता है।"

गीता (१५/६) में भी कहा गया है—

"जहाँ न सूर्य, न चन्द्रमा और न अग्नि ही प्रकाशित कर सकता है वही मेरा परमधाम है।"

इस स्थिति को प्राप्त करने वाला ही ब्रह्म हो जाता है।

(धारणा-१०२)

नित्ये निराश्रये शून्ये व्यापके कलनोज्झिते ।
बाह्याकाशे मनः कृत्वा निराकाशं समाविशेत् ।।१२५।।

व्याख्या—यह शिवतत्त्व शून्य जैसा भासने पर भी अशून्य ही है। जिसकी सत्ता है। उसका स्थान शून्य ही है जिसमें वह निवास करता है इसको जानने के लिए साधक को इसका प्रयोग करना चाहिये। साधक अपने मन को इस शून्य आकाश में समाहित कर देखें कि यह भी नित्य है, बिना किसी आश्रय वाला है, शून्य स्वरूप है, जिसका कोई रूप, रंग, आकार आदि नहीं है यही सर्वत्र व्यापक है, यह भी कल्पनारहित है। इसका दूसरा कोई विकल्प नहीं है, ऐसी कोई अन्य वस्तु नहीं है जिससे इसकी तुलना की जा सके, यह निरपेक्ष सत्ता है जो किसी के सापेक्ष नहीं है आदि, वाले आकाश में अपने मन को स्थिर करके देखने का अभ्यास करे तो थोड़े समय बाद उसे इसका भान हो जाएगा कि यह आकाश शून्यस्वरूप भासता हुआ भी इसकी सत्ता है, यह अशून्य है। इसी प्रकार के अभ्यास से ही जाना जा सकता है कि वह शिवतत्त्व शून्यस्वभाव वाला नहीं है बल्कि शून्य जैसा भासते हुए भी सत्तास्वरूप है शून्याकाश में ही उसकी स्थिति है। ऐसा प्रत्यक्ष अनुभव होने लगता है। यह विकल्परहित है, कल्पनारहित है, आकाश की भाँति ही वह सर्वत्र व्याप्त है। शून्य आकाश में उसकी भावना दृढ़ करने पर उसकी सत्ता का आभास हो जाता है।

(धारणा-१०३)

यत्र यत्र मनो याति तत्तत् तेनैव तत्क्षणम् ।
परित्यज्यानवस्थित्या निस्तरङ्गस्ततो भवेत् ।।१२६।।

व्याख्या—यह मन वासनाग्रस्त है अर्थात् वासना का नाम ही मन है। इसमें वासना की तरंगें उठती रहती हैं। इन तरंगों के उठते रहने से ही वह विषयों की ओर भी भागता रहता है। बन्दर की भाँति एक ही विषय से दूसरे पर छलांग लगाता रहता है। शान्त रहना इसका स्वभाव ही नहीं है। जिस प्रकार जल के हिलते रहने से उसमें चन्द्रमा का बिम्ब

स्पष्ट नहीं दिखाई पड़ता उसी प्रकार मन की चंचलता के कारण ही आत्मा का अनुभव नहीं होता। आत्मा अर्थात् उस चैतन्यतत्त्व का अनुभव करने के लिए तन्त्र ने दो उपाय बताये हैं। दोनों का उद्देश्य एक ही है मन को स्थिर करना, उसकी इस चंचलता को रोकना। पहले धारणा संख्या ७३ में बताया गया है कि जहाँ जहाँ मन की इच्छा जाती है अपने मन को उसमें स्थिर कर देना चाहिये व अन्य सभी प्रकार के विषयों के संकल्प का परित्याग कर देना चाहिये तथा उसी में आत्मा की भावना करनी चाहिये। इससे भी मन स्थिर हो जाता है। धारणा संख्या ९० में भी वही कहा गया है कि जहाँ-जहाँ मन जाता है वहीं इसका अभ्यास करना चाहिये कि सभी कुछ भैरवस्वरूप ही है, भैरव से भिन्न कुछ भी नहीं है, ऐसी भावना करनी चाहिये। उसे शिवस्वरूप ही मान लेना चाहिये कि सभी शिवस्वरूप ही हैं उसी से सब प्रकाशित है ऐसी धारणा करने से भी मन स्थिर हो जाता है। धारणा संख्या ९१ में भी यही कहा गया है कि जहाँ जहाँ विषयों में मन जाता है उनको चैतन्य स्वरूप ही मान लेना चाहिये क्योंकि चैतन्य से भिन्न किसी की सत्ता है ही नहीं इसलिए इनको चैतन्य स्वरूप मान लेने से आत्मा का अनुभव होने लगता है।

किन्तु इस श्लोक में मन के निरोध की बात कही गयी है कि अपनी चंचलता के कारण मन जहाँ-जहाँ जाता है उन उन विषयों से उसको तत्काल हटा दें तथा यह मान लें कि इन विषयों की कोई वास्तविक सत्ता नहीं है ये भ्रमवश ही ज्ञात हो रहे हैं। यदि एक बार मन को इन विषयों से हटा देने पर भी यदि वह बार-बार जाता है तो उसे बार-बार हटाने का अभ्यास करे जब तक कि वह पूर्णरूप से हट नहीं जाता। फिर वह मन अपने वश में आ जाता है गीता (६/२६) में भी यही कहा गया है कि—

> "यह स्थिर न रहने वाला चंचल मन जिस जिस शब्दादि विषय के निमित्त से संसार में विचरता है उस उस विषय को रोककर उसे बार-बार परमात्मा में ही निरुद्ध करे।"
>
> पातंजल योग दर्शन (१/१२) में भी मन के निरोध का उपाय अभ्यास और वैराग्य को ही बताया गया है। उसमें कहा गया है कि—
>
> "उन चित्त वृत्तियों का निरोध अभ्यास और वैराग्य से होता है।"
>
> गीता (६/३५) में भी अभ्यास और वैराग्य द्वारा मन के निरोध की बात कही गयी है—
>
> "हे महाबाहो! निःसन्देह मन चंचल है और कठिनता से वश में होने वाला है, परन्तु हे कुन्तीपुत्र अर्जुन! यह अभ्यास और वैराग्य से वश में होता है।"
>
> अतः उस चैतन्य तत्त्व को जानने की एक ही विधि है चंचल मन को स्थिर करना। मन के स्थिर होते ही उस चैतन्य की अनुभूति हो जाती है।

(धारणा-१०४)

भया सर्व रवयति सर्वदो व्यापकोऽखिले ।
इति भैरवशब्दस्य सन्ततोच्चारणाच्छिवः ।।१२७।।

व्याख्या—इस श्लोक में भैरव शब्द की व्याख्या की गयी है कि यह शब्द चार अक्षरों **भा ऐ र व** से मिलकर बना है। इसमें **भा** का अर्थ है उस चैतन्य का प्रकाश तथा **ऐ** का

अर्थ है क्रियाशक्ति। इसका अर्थ है वह महेश्वर क्रियाशक्ति से संयुक्त होकर अपने संवित प्रकाश रूप स्वभाव से सारे पदार्थों का विमर्श करता है अथवा अपनी **भा** अर्थात् ज्ञात शक्ति तथा **ऐ** अथवा अपनी क्रियाशक्ति से अखिलविश्व का विमर्श करता है। महेश्वर ज्ञान व क्रिया नाम वाली दोनों शक्तियों का स्वामी है। अतः इसी को **भैरव** कहा जाता है।

इसका दूसरा अर्थ होगा कि भगवान् भैरव समस्त बाह्य एवं आन्तर सभी पदार्थों का अपने से अभिन्न बताकर वह सब प्राणियों को भयमुक्त कर देता है। अपने से भिन्न यदि कोई दूसरी वस्तु हो तो उसी से भय होता है। एक में भय नहीं होता अर्थात् द्वैत ही भय का कारण है।

अद्वैत में भय नहीं होता। वृहदारण्य उपनिषद् में भी कहा गया है कि "द्वितीयाद्वे भयं भवति।" इस प्रकार अभेद का बोध कराता है इस प्रकार जो साधक इस धारणा से रात दिन इसका उच्चारण करता रहता है वह स्वयं शिव बन जाता है तथा वह जीवन्मुक्त हो जाता है।

(धारणा-१०५)

अहं ममेदमित्यादिप्रतिपत्तिप्रसङ्गतः ।
निराधारे मनो याति तद्ध्यानप्रेरणाच्छमी ।।१२८।।

व्याख्या—आत्मा ही एकमात्र चेतनतत्त्व है जो सबमें समान रूप से विद्यमान है। इसी को मनुष्य 'मैं' और 'मेरा' कहता है। मनुष्य की सबसे प्रिय वस्तु उसकी आत्मा ही है जिससे वह प्रेम करता है। वह आत्मा ही ज्ञानस्वरूप है जो सर्वत्र समान रूप से विद्यमान है। आत्मा आत्मा में कोई भेद नहीं है। वही परमात्मा का परमानन्द स्वरूप है। ज्ञानी हो या अज्ञानी सबकी आत्मा एक ही है तथा सभी उसी से प्रेम करते हैं। यही परमेश्वर का भजन है। शास्त्रों में प्रेम को ही ब्रह्म माना गया है। ज्ञानी और अज्ञानी सभी इसी आनन्दभाव में रहते हैं। आत्मप्रेम से बढ़कर और कोई प्रेम नहीं है। अतः न तो कोई ज्ञानी है, न अज्ञानी और न परमज्ञानी किन्तु वह परमेश्वर ही आत्मस्वरूप में सबमें भासित हो रहा है। अतः साधक को शान्तभाव से अपने आत्मस्वरूप का ही चिन्तन करते रहना चाहिये। इस जगत् में नाना पदार्थों की कोई सत्ता नहीं है। वृहदारण्य उपनिषद् में कहा गया है कि 'नेह नानास्ति किंचन', यहाँ कुछ भी नाना नहीं है। यह भिन्नता ही अज्ञान है। इसलिए मन को निराधार बनाकर अपने परमार्थ स्वरूप के ध्यान का अभ्यास करने से चित्त शान्त हो जाता है जिससे सभी प्रकार के द्वन्द्व शान्त होकर उसको परमपद की प्राप्ति हो जाती है।

(धारणा-१०६)

नित्यो विभुर्निराधारो व्यापकश्चाखिलाधिपः ।
शब्दान् प्रतिक्षणं ध्यायन् कृतार्थोऽर्थानुरूपतः ।।१२९।।

व्याख्या—योगी को बार-बार इन शब्दों का स्मरण करते रहना चाहिये कि वह परब्रह्म परमेश्वर ही नित्य है वह सदा से है तथा सदा रहने वाला है। वह सृष्टि के पूर्व में भी था, वर्तमान में भी सृष्टिरूप में है तथा भविष्य में भी रहेगा। उसी की सत्ता है तथा वही सब कुछ है उससे भिन्न कुछ भी नहीं है ये सभी उसी के विभिन्न रूपमात्र हैं, वही सर्वव्यापक है, वह निराधार है, उसका कोई आधार नहीं है, वही सबका आधार है, वही अखिलविश्व का अधिपति है आदि ऐसे शब्दों का स्मरण करते रहकर अपने चित्त को

एकाग्र कर लेना चाहिये जिससे वह कृतकृत्य हो जाता है। इस धारणा के दृढ़ हो जाने पर वह स्वयं भी अपने को शिव स्वरूप ही मानने लग जाता है। उसे भेद वाली दृष्टि समाप्त होकर अभेद का अनुभव होने लग जाता है कि वही सब कुछ है उससे भिन्न कुछ भी नहीं है। वही सर्वज्ञ है सर्वकर्ता है। ऐसी भावना का विकास होने पर वह सभी विकल्पों से मुक्त होकर परमानन्द स्थिति का अनुभव करने लगता है। भाव यह है कि केवल ईश्वर के नाममात्र के स्मरण से व उच्चारण से साधक को मोक्ष की प्राप्ति हो सकती है धारणा के दृढ़ होने से ही सिद्धि प्राप्त होती है।

(धारणा-१०७)

अतत्त्वमिन्द्रजालाभमिदं सर्वमवस्थितम् ।
किं तत्त्वमिन्द्रजालस्य इति दार्ढ्याच्छमं व्रजेत् ।।१३०।।

व्याख्या—सृष्टि का मूलतत्त्व तो एक ही है। यह सम्पूर्ण दृश्य जगत् उसी का विस्तार है, उससे भिन्न किसी की सत्ता नहीं है। यह जगत् निस्तत्त्व है, सारहीन है। यह इन्द्रजाल के समान दिखाई तो देता है किन्तु वास्तव में यह जैसा दिखाई देता है वैसा है नहीं। यह जादूगर द्वारा दिखाये गये दृश्यों की भाँति भ्रमपूर्ण है। यह सम्पूर्ण सृष्टि ईश्वर का ही स्वरूप है उसे ईश्वर से भिन्न मानना भ्रममात्र है अतः यह मिथ्या ही है। इसकी कोई वास्तविक सत्ता नहीं है। व्यवहार में चाहे इसे सत्य मान लिया गया हो किन्तु परमार्थ में यह असत्य ही है। इस प्रकार की भावना दृढ़ हो जाने पर साधक इन सांसारिक विषयों में रुचि नहीं लेता, न इनसे मोह ही करता है जिससे वह मुक्त हो जाता है। अपने वास्तविक स्वरूप का ज्ञान हो जाना ही मुक्ति का एकमात्र उपाय है।

(धारणा-१०८)

आत्मनो निर्विकारस्य क्व ज्ञानं क्व च वा क्रिया ।
ज्ञानायत्ता बहिर्भावा अतः शून्यमिदं जगत् ।।१३१।।

व्याख्या—यह आत्मा निर्विकार है। इसमें कोई विकार नहीं है। वह एक ही परमतत्त्व है जो चेतन स्वरूप है। इसका कोई रूप, रंग, आकार आदि नहीं है, वह निराकार है। इसे देखा नहीं जा सकता इसका परीक्षण नहीं हो सकता। यह केवल बोध स्वरूप है। सृष्टि में जो भी बोध होता है उसका कारण यही आत्मचेतना है। इसके सिवा अन्य कोई वस्तु ऐसी नहीं है जो बोध का कारण हो। वह विभाग रहित है उसका कोई विभाग नहीं है। वह एक ही परिपूर्ण है। इसमें ज्ञान और क्रिया जैसा कोई विभाग नहीं है जिससे कहा जा सके कि इसमें ज्ञान व क्रिया नाम वाली दो शक्तियाँ हैं। ज्ञान और क्रिया भी इसके विकार ही है जो इन दोनों से रहित हैं किन्तु बाह्य पदार्थ की सत्ता ज्ञान व क्रिया पर ही आधारित है। बिना क्रिया के पदार्थ की रचना नहीं हो सकती तथा बिना ज्ञान के उन्हें जाना नहीं जा सकता किन्तु आत्मा की रचना न तो किसी क्रिया से होती है न उसे किसी अन्य माध्यम से जाना जा सकता है। अतः वह शून्य स्वभाव वाली है। इस प्रकार यह सारा जगत् भी शून्य स्वभाव वाला है किन्तु भ्रमवश ही वह सब जादूगर के द्वारा दिखाये गये दृश्यों की भाँति ही सत्य प्रतीत होता है।

एक आगम ग्रन्थ में शून्य के स्वरूप का वर्णन इस प्रकार किया है—

“नीचे, ऊपर, सभी दिशाएँ, भूमि, जल, अग्नि, वायु, आकाश मन, बुद्धि, अहंकार तथा सत्त्व, रज, तम आदि सभी गुण—वे सब निरालम्ब हैं, निराधार है अतः ये शून्य

स्वभाव है। शून्य में ही इन सबकी स्थिति है। शास्त्रों में इनको भाव स्वरूप कहा गया है किन्तु ये सब नितान्त सारहीन है। न इनकी स्थिति इन्द्रजाल से कल्पित वस्तुओं जैसी अथवा स्वप्न में दिखाई पड़ने वाली वस्तुओं जैसी क्षणिक एवं अवास्तविक है। अतः इस भ्रम को दूर कर देना चाहिये कि इनकी कोई पारमारर्थिक सत्ता है। ये सभी पदार्थ जो दिखाई देते हैं वे सभी शून्य में प्रतिष्ठित हैं अर्थात् शून्य स्वरूप ही है। इस शून्य से ही शक्ति की प्रवृत्ति होती है। शक्ति से ही वर्ण पैदा होते हैं, वर्णों से मन्त्र और मन्त्रों से ही यह कभी नष्ट न होने वाली सृष्टि होती है। अतः इस जगत् की शून्य के रूप में ही उपासना करनी चाहिये। ऐसा करने वाला साधक कभी नष्ट नहीं होता। इस वास्तविकता का ज्ञान जिसे हो गया वह शिव स्वरूप को प्राप्त हो जाता है।"

(धारणा-१०९)

न मे बन्धो न मोक्षो मे भीतस्यैता विभीषिकाः ।
प्रतिबिम्बमिदं बुद्धेर्जलेष्विव विवस्वतः ।।१३२।।

व्याख्या—ज्ञानी और अज्ञानी की दृष्टि में बड़ा अन्तर होता है ज्ञानी वह है जिसने सृष्टि के सत्य को जान लिया है जो अज्ञान से मुक्त हो गया है तथा अज्ञानी वह है जिसने सत्य को नहीं जाना तथा वह भ्रम में ही जी रहा है। ज्ञानी और अज्ञानी में संसार तो वही रहता है किन्तु उसकी दृष्टि बदल जाती है, देखने का ढंग बदल जाता है जिससे उसका सारा जीवन ही बदल जाता है। संसारी व्यक्ति द्वैत में जीता है, वह दूसरे को दूसरा समझता है इसलिए वह दूसरों से भयभीत रहता है। ज्ञानी अद्वैत में जीता है वह सबको अपना ही स्वरूप मानता है अतः वह किसी से भयभीत नहीं होता। दूसरे के कारण ही बन्धन होता है, एक में कौन किसको बाँधे जब बन्धन की कल्पना होती है तभी मोक्ष की बातें होती हैं जब बन्धन है ही नहीं तो मोक्ष की कल्पना करना ही व्यर्थ है।

ज्ञानी व्यक्ति अपने को चैतन्य स्वरूप आत्मा ही समझता है जो एक ही है, निरावयव है, स्वतन्त्र है। उसको कोई बन्धन नहीं है। वह देश, काल आदि से परिच्छिन्न नहीं है। परिच्छिन्न वस्तु में ही बन्ध और मोक्ष की कल्पना होती है। ज्ञानी व्यक्ति इनसे मुक्त रहता है, इसलिए वह कहता है कि न तो मेरा कोई बन्धन है और बन्धन ही नहीं है तो मोक्ष की बात करना भी मिथ्या ही है जो व्यक्ति माया शक्ति के कारण अपने वास्तविक स्वरूप को न जानकर सदा भयभीत रहता है। यह द्वैत की मिथ्या धारणा ही बन्धन का कारण है तथा उसी के लिए मोक्ष की कल्पना की गई है। जिस प्रकार खेत में पक्षियों को डराने के लिये एक झूठा आदमी खड़ा कर दिया जाता है जिससे पक्षी डरकर फसल को हानि नहीं पहुँचाते उसी प्रकार मनुष्य को भयभीत करने के लिए शास्त्रों में कह दिया गया है कि इन कामों को करने से बन्धन होता है तथा इनको करने से मोक्ष होता है किन्तु जो तत्त्वज्ञानी है जिसने अपने वास्तविक स्वरूप को जान लिया है उसके लिए ये सब कोरी कल्पना मात्र है। शास्त्रों में योगी के लिए कहा गया है कि—

"त्रिगुणातीत पथ पर विचरने वाले योगियों के लिये विधि क्या है और निषेध क्या है?"

ये विधि निषेध के नियम उनके लिये हैं जो सत्त्व, रज और तम गुणों से बँधे हैं अन्यथा जो इनसे अतीत हो चुके हैं उनके लिये कोई नियम नहीं है। वे स्वतन्त्र होकर विचरते हैं। जिसकी बुद्धि का पूरा विकास नहीं हुआ है वही उलटी बुद्धिवाला पुरुष हर

छोटी-मोटी बात से भयभीत रहता है। ज्ञानी व्यक्ति ऐसी बातों की चिन्ता नहीं करता। वह अपने आत्मस्वरूप में लीन रहता है।

(धारणा-११०)

इन्द्रियद्वारकं सर्वं सुखदुःखादिसङ्गमम् ।
इतीन्द्रियाणि संत्यज्य स्वस्थः स्वात्मनि वर्तते ।।१३३।।

व्याख्या—मनुष्य को सुख दुःख की अनुभूति इन्द्रियों के द्वारा ही होती है शरीर में चेतना ही सब कुछ है जिसे सुख दुःख की अनुभूति नहीं होती। ज्ञानेन्द्रियों को जब कोई प्रतिकूल बातें सुनने, देखने, खाने आदि के लिये मिलती है अथवा कर्मेन्द्रियों को जब कोई आघात लगता है तो उससे पीड़ा होती है जिससे मन को दुःख होता है तथा अनुकूलता में मन को प्रसन्नता होती है व सुख होता है। यह सब विचारों के कारण होता है। जब मन स्वचेतना में स्थिर हो जाता है तो उसे सुख दुःख की अनुभूति नहीं होती। अतः साधक को इस इन्द्रिय सुख दुःख की परवाह न करके अपने आत्मा में ही स्थिर रहने का अभ्यास करना चाहिये। यह सुख दुःख मन का धर्म है आत्मा का नहीं।

(धारणा-१११)

ज्ञानप्रकाशकं सर्वं सर्वेणात्मा प्रकाशकः ।
एकमेकस्वभावत्वाज्ज्ञानं ज्ञेयं विभाव्यते ।।१३४।।

व्याख्या—सभी प्रकाश्य वस्तुएँ ज्ञान से ही प्रकाशित होती हैं। अर्थात् ज्ञान के प्रकाश में ही उनको जाना जाता है। अतः ज्ञान ही उन ज्ञेय वस्तुओं का प्रकाशक है तथा सभी वेद्य वस्तुएँ आत्मा में प्रकाशित हैं अतः सबको जानने वाला आत्मा ही है। इन वेद्य वसतुओं से ही आत्मा का ज्ञान होता है। यदि वेद्य वस्तुएँ न हो तो आत्मा को प्रकाशक कैसे कहा जा सकता है तथा यदि आत्मा प्रकाशक ही न हो तो ज्ञेय को कौन प्रकाशित करेगा? अतः यह मानना पड़ेगा कि वेद्य वस्तुएँ ही आत्मा को प्रकाशक का स्वरूप प्रदान करती है। अतः वेद्य और वेदक दोनों की प्रकृति एक ही है कि वेद्य ही वेदक स्वरूप है तथा वेदक भी वेद्यस्वरूप है। अतः ज्ञान और ज्ञेय में एक ही तत्त्व भासित हो रहा है दोनों में एकता ही सिद्ध होती है। प्रकाशमान वस्तु प्रकाश से पृथक नहीं है तथा प्रकाश प्रकाश्य वस्तु से अलग नहीं होता। अतः ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय ये तीनों प्रकाश के कारण ही भासित हो रहे हैं अन्यथा इनमें कोई भेद नहीं है। ये सब चेतन स्वरूप ही है ऐसी भावना करने से साधक शिव स्वरूप ही हो जाता है।

(धारणा-११२)

मानसं चेतना शक्तिरात्मा चेति चतुष्टयम् ।
यथा प्रिये परिक्षीणं तथा तद्भैरवं वपुः ।।१३५।।

व्याख्या—भगवान् भैरव यहाँ फिर भैरवी से कहते हैं कि हे प्रिये! यह संकल्प-विकल्प करने वाला मन, चेतन स्वरूप बुद्धि, प्राण नामक शक्ति तथा आत्मरूप में इनको जानने वाला परिमित अहंता ये चारों जब सब ओर से विलीन हो जाते हैं अर्थात् साधक की चित् शक्ति में विलीन हो जाते हैं तथा ये सब उसे चित्ति के ही चमत्कार ज्ञात होने लगते हैं तो वह साधक भैरव स्वरूप को प्राप्त कर लेता है। साधक यह मान लेता है कि ये चारों मेरा स्वरूप नहीं है। ये सब माया की उपज है जो भ्रमवश ज्ञात हो रहे हैं। ऐसा मान लेने पर वह अपने को चित् शक्ति ही मानने लग जाता है। जिस प्रकार कुहरे से मुक्त होने

पर सूर्य का प्रकाश स्पष्ट दिखाई देने लगता है वैसे ही इन चारों आवरणों के हट जाने पर वह साधक चित्ति के प्रकाश से आलोकित हो उठता है। इसी स्थिति में वह साक्षात् भैरव हो जाता है।

---

1. पातंजल योग दर्शन (नन्दलाल दशोरा)
2. योगवाशिष्ठ (नन्दलाल दशोरा) उपलब्ध हैं।

विज्ञान भैरव

(भैरव के उपदेश)

निस्तरङ्गोपदेशानां शतमुक्तं समासतः ।
द्वादशाभ्यधिकं देवि यज्ज्ञात्व । ज्ञानविज्जनः ।।१३६।।

व्याख्या—भैरवी ने भगवान भैरव से कई प्रश्न पूछे जिनका समाधान पाकर उसने फिर पूछा कि वह कौन सी विधि है जिससे उस परमतत्त्व को जाना जा सके। इसके उत्तर में भगवान् भैरव ने उसे प्राप्त करने के लिए धारणा की ११२ विधियों का वर्णन किया और कहा कि हे देवी! इस तरह से मैंने संक्षेप में ११२ निर्विकल्पक धारणाओं का उपदेश किया है ये सभी धारणाएँ साधक के चित्त को निस्तरंग (स्थिर) बना देने वाली हैं जिससे उसकी स्वात्म स्वरूप में प्रतिष्ठा हो जाती है। इन धारणाओं को ठीक से समझ लेने पर मनुष्य ज्ञानी हो जाता है। अर्थात् साक्षात् भैरव बन जाता है।

अपना स्वात्म स्वरूप ही चैतन्य है जो भैरव स्वरूप है ये मन की तरंगें ही निरन्तर विषयों की ओर भटकती रहती है। इन तरंगों को धारणाओं की विधियों से रोक देना ही निस्तरंग होना है। इसी से चित्त स्थिर हो जाता है। इसी अवस्था में उस आत्म चैतन्य की स्पष्ट अनुभूति हो जाती है। यही योगी की ज्ञानावस्था है जिसे प्राप्त कर साधक स्वयं भैरव (शिव) स्वरूप हो जाता है। चित्त को निस्तरंग करना ही मुख्य साधना है।

अत्र चैकतमे युक्तो जायते भैरवः स्वयम् ।
वाचा करोति कर्माणि शापानुग्रहकारकः ।।१३७।।

व्याख्या—ऊपर धारणा की जो विधियाँ बताई गई हैं उनमें से किसी एक की भी साधना पूर्ण कर लेने वाला साधक चाहे वह इस जागतिक कार्यों में रम रहा हो बिना किसी विशेष प्रयत्न के केवल ध्यान द्वारा उसे ऐसी शक्ति प्राप्त हो जाती है जिससे वह अपने वचन से सब कुछ कर सकता है अर्थात् किसी को शाप या वरदान देने में समर्थ हो सकता है किन्तु इस सिद्धि का यदि वह उपयोग न करे और निरन्तर समाधि में ही लीन रहे तो वह साक्षात् भैरव बन जाता है यह ध्रुव सत्य है।

अजरामरतामेति सोऽणिमादिगुणैर्युतः ।
योगिनीनां प्रियो देवि सर्वमेलापकाधिपः ।।१३८।।
जीवन्नपि विमुक्तोऽसौ कुर्वन्नपि न लिप्यते ।

व्याख्या—भगवान् भैरव फिर भैरवी से कहते हैं कि हे देवी! जो इन धारणाओं में से किसी एक का भी अभ्यास पूर्ण कर लेता है वह अजर और अमर हो जाता है उसे न वृद्धावस्था आती है न उसकी मृत्यु ही होती है तथा वह अणिमा, गरिमा आदि सभी सिद्धियों से युक्त हो जाता है। वह सभी योगिनियों का प्रिय तथा सभी मेलापकों का अधिपति बन जाता है ऐसा योगी जीवन्मुक्त होकर रहता है, उसका सांसारिक विषयों मे

कोई रस अथवा आसक्ति नहीं होती जिससे वह संसार में सभी कर्मों को करता हुआ भी उनमें लिप्त नहीं होता। उसके सभी कार्य जल कमलवत् हो जाते हैं। कर्म तभी लिप्त होते हैं जब उनमें आसक्ति हो। आसक्ति रहित कर्म लिप्त नहीं होते जिससे उनके फलों का भोग भी नहीं करना पड़ता।

(तन्त्र में साधक को सिद्ध तथा साधिका को योगिनी कहा गया है। इन दोनों साधक व साधिकाओं के समूह को मेलापक कहा जाता है।)

।। श्री भैरवी उवाच ।।

इदं यदि वपुर्देव परायाश्च महेश्वर ।।१३९।।
एवमुक्तव्यवस्थायां जप्यते को जपश्च कः ।
ध्यायते को महादेव पूज्यते कश्च तृप्यति ।।१४०।।
हूयते कस्य वा होमो यागक्षेत्रादि किं कथम् ।

व्याख्या—भैरवी ने पूर्व में अपने परादेवी विषयक प्रश्न भगवान् भैरव से पूछा था कि उस परास्वरूप को कैसे जाना जाये तो इसके उत्तर में भगवान् भैरव ने उसे जानने के लिये धारणा की ११२ विधियों का वर्णन करके कहा कि इनमें से किसी एक भी धारणा का अभ्यास करने पर साधक स्वयं शिवरूप हो जाता है। इससे उसका द्वैतभाव समाप्त होकर उसकी अद्वैत में प्रतिष्ठा हो जाती है। यही उसका स्वात्म स्वरूप है, इससे भिन्न कुछ भी नहीं है। यह भिन्नता अज्ञान के कारण ही ज्ञात होती है।

इस उत्तर को सुनकर भैरवी के मन में यह शंका उठती है कि यदि ऐसा साधक स्वयं शिवरूप ही हो जाता है तो हे देव! हे महेश्वर? आप यह बताइये कि यदि सब कुछ परादेवीय ही है तो कौन किसका जप करे? क्योंकि जप करने वाला तथा जिसका जप किया जाता है दोनों वही है तो फिर जप करना कैसे सम्भव है? जप करने में दो का होना आवश्यक है तभी जप किया जा सकता है। एक होने पर जप कैसे सम्भव है? यदि साधक सर्वमय हो जाता है तो साधक का और पराशक्ति का स्वरूप अभिन्न हो जाता है तो दोनों में भेद न रहने पर ध्यान भी किसका किया जाये? पूजा भी किसकी की जायेगी? कौन किसको तृप्त करेगा? किसके लिए हवन किया जायेगा? याग किसके लिए किया जायेगा? ये कैसे सम्पन्न होगा? जब सभी स्वात्मस्वरूप ही है तो ध्याता और ध्येय पूजा और पूजक, तर्पणापि और तर्पण आदि का भेद ही नहीं रहेगा तो शास्त्रों में इनका जो विधान है उसका क्या होगा? हे महादेव! कृपया बताइये कि इनकी फिर उपयोगिता ही क्या है? ये क्षेत्र निवास, तीर्थाटन आदि सभी व्यर्थ हो जाएँगे। अद्वय दृष्टि से तो उनकी कोई उपयोगिता ही नहीं रहेगी?

।। श्री भैरव उवाच ।।

एषाऽत्र प्रक्रिया बाह्या स्थूलेष्वेव मृगेक्षणे ।।१४१।।

व्याख्या—भैरवी द्वारा किये गये प्रश्नों के उत्तर में भगवान् भैरव ने कहा कि हे मृगनयनी! ये सब पूजा पाठ, जप, तप, ध्यान, होम, यज्ञ, याग, तीर्थाटन आदि कर्मकाण्डों का विधान उन स्थूल शरीरधारी व्यक्तियों के लिये है जिनको आत्मानुभूति नहीं हुई है जो आत्मज्ञानी है जो अद्वैत में ही रिक्त हो गये हैं जिनको उस परमतत्त्व का ज्ञान हो गया है जिनको ईश्वर व जीव में अभेद की प्रतीति हो गयी है। उनके लिए इन कर्मकाण्डों की आवश्यकता नहीं है वे सब इनसे मुक्त ही हैं। यदि वे करें तो भी कोई दोष नहीं है किन्तु

ऐसा करने से वे फिर वासना में ग्रस्त हो सकते हैं इसलिए न करना ही अच्छा है। उनके लिये इनकी कोई उपयागिता नहीं है। जिस प्रकार नदी पार करने के लिए नौका की आवश्यकता होती है किन्तु पार हो जाने पर उसे छोड़ ही देना चाहिये फिर उसे सिर पर ढोते रहने का क्या औचित्य है? इसी प्रकार ये कर्मकाण्ड भी साधन रूप हैं। जब साध्य की प्राप्ति हो गयी है तो इनको ढोते रहने का क्या औचित्य रह जाता है?

भूयोभूयः परे भावे भावना भाव्यते हि या ।
जपः सोऽत्र स्वयं नादो मन्त्रात्मा जप्य ईदृशः ।।१४२।।

व्याख्या—तन्त्र ग्रन्थों में जप के कई रूप बताये गये हैं। "मैं ही इस जगत् का परमकारण, परमहंस, प्राणमय शिव हूँ।" इस प्रकार मैं ही ब्रह्म हूँ, मैं ही शिव हूँ इस अनाहतनाद रूपी शब्द (सोऽहम्, हंसः) की निरन्तर भावना को ही यहाँ जप कहा जाता है। जपनीय मन्त्र भी स्वयं नादात्मन् ब्रह्म ही है। जप का यह भी स्वरूप बताया गया है कि इन्द्रियों की बहिर्मुख प्रवृत्ति को रोककर आन्तर अनाहत नाद की भावना करना ही जप कहलाता है।" नाना वर्णों से निर्मित मन्त्रों का बाह्य उच्चारण वस्तुतः जप नहीं कहलाता।

ध्यानं हि निश्चला बुद्धिर्निराकारा निराश्रया ।
न तु ध्यानं शरीराक्षिमुखहस्तादिकल्पना ।।१४३।।

व्याख्या—तन्त्र शास्त्र में जप के बाद ध्यान का स्वरूप इस प्रकार बताया गया है कि बुद्धि को निश्चल कर दे कि वह किसी विषय की ओर भटके नहीं, स्थिर हो जाये। जिस प्रकार वायुरहित स्थान पर दीपक स्थिर हो जाता है तथा वह निराकार हो जाये, भिन्न-भिन्न आकारों की कल्पना से शून्य हो जाये। जैसे किसी मूर्ति आदि को लेकर ईश्वर के विषय में उसके रूप, रंग, आकार आदि की कल्पना करना आदि तथा वह निराधार हो जाये निराश्रय हो जाये अर्थात् मूलाधार, हृदय, द्वादशान्त आदि का सहारा न ले ऐसी बुद्धि होने पर उसी को ध्यान कहा जाता है। इस प्रकार बुद्धि जब बिना किसी आश्रय के स्थिर हो जाती है ऐसी समाधि जैसी अवस्था को ही ध्यान कहा जाता है किन्तु स्थूल बुद्धि वाले अज्ञानीजन किसी वस्तु को आश्रय बनाकर उसमें बुद्धि को स्थिर करते है जो ध्यान नहीं है। इसे धारणा कह सकते हैं। ध्यान इससे परे की स्थिति है जिसमें किसी वस्तु को आधार नहीं बनाया जाता न कोई चेष्टा ही होती है। निश्चेष्ट स्थिति।

पूजा नाम न पुष्पाद्यैर्या मतिः क्रियते दृढा ।
निर्विकल्पे परे व्योम्नि सा पूजा ह्यादराल्लयः ।।१४४।।

व्याख्या—धर्म ग्रन्थों में पूजा की कई विधियाँ बताई गयी हैं जिनमें धूप, दीप, नैवेद्य आदि से पूजा करने का विधान है किन्तु तन्त्र शास्त्र इससेउच्च कोटि की पूजा की बात कहता है। इसके अनुसार इस प्रकार की पूजा का कोई औचित्य नहीं है। उस बोधभैरव की पूजा इन बाह्य उपकरणों से नहीं की जा सकती। वह बोधभैरव निराकार स्वरूप है जिससे यह सम्पूर्ण जगत् व्याप्त है। उससे भिन्न किसी की भी सत्ता नहीं है उसी भैरव स्वरूप में दृढ़ आस्था रखना ही उसकी वास्तविक पूजा है। अतः इन धारणाओं में से किसी भी एक धारणा का अभ्यास कर अपने स्वरूप को उसमें लीन कर देना ही परमार्थ में पूजा है। अन्य सभी तन्त्र ग्रन्थों में भी इसी प्रकार की पूजा की बात कही गयी है। यह बाह्य उपकरणों की पूजा निराकार की नहीं हो सकती। जब तक अपने स्वत्त्व को उसमें लीन नहीं कर दिया जाता तब तक उसकी पूजा पूर्ण नहीं होती।

अत्रैकतमयुक्तिस्थे योत्पद्येत दिनाद्दिनम् ।
भारिताकारता सात्र तृप्तिरत्यन्तपूर्णता ।।१४५।।

व्याख्या—इस श्लोक में तृप्ति का स्वरूप बताया गया है कि मनुष्य किन उपायों से तृप्ति का अनुभव करता है। ये सभी सांसारिक विषय मनुष्य को कभी पूर्ण तृप्ति नहीं दे सकते। भगवान् भैरव ने इस ग्रन्थ में जिन ११२ धारणाओं की बात कही है उनमें से किसी एक का भी निरन्तर अभ्यास करते रहने से साधक निर्विकल्प अवस्था में जब पहुँच जाता है तभी उसको पूर्ण तृप्ति का अनुभव होता है। इसके सिवा अन्य कोई भी विषय उसको तृप्त नहीं कर सकते। यह द्वैत भाव कभी जीव को तृप्त नहीं कर सकता। जब जीव स्वयं ईश्वर स्वरूप हो जाता है तो यही अद्वैत अवस्था ही जीव को पूर्ण तृप्ति दे सकती है। यही जीव की पूर्णता है। अपूर्णता ही सभी दुःखों का कारण है।

महाशून्यलये वह्नौ भूताक्षविषयादिकम् ।
हूयते मनसा सार्धं स होमश्चेतनास्रुचा ।।१४६।।

व्याख्या—इस श्लोक में होम के विषय में कहा गया है कि यज्ञीय होम में घृत आदि की आहुति स्रुवा नाम के लकड़ी के बने पात्र से ही दी जाती है। उसी तरह से उस बोधभैरव रूप अग्नि में पंचमहाभूत, सभी इन्द्रियगण, अनेक विषय तथा मन के साथ इन सब की आहुति दे देना ही वास्तविक होम या हवि कहा जाता है। इस प्रकार इन सभी का उस एक ही बोधभैरव में लीन हो जाता है जिससे केवल वही स्वात्म स्वरूप बच रहता है। यही वास्तविक होम है। जिससे शुद्ध अद्वय तत्त्व के अतिरिक्त अन्य सभी उसमें भस्म हो जाते हैं। यही अद्वैत का स्वरूप है जिससे सभी द्वैत की समाप्ति हो जाती है। भिन्नता की प्रतीति जो भ्रमवश हो रही थी वह समाप्त होकर अद्वैत ही शेष रह जाता है। यही वास्तविक होम है।

यागोऽत्र परमेशानि तुष्टिरानन्दलक्षणा ।
क्षपणात् सर्वपापानां त्राणात् सर्वस्य पार्वति ।।१४७।।
रुद्रशक्तिसमावेशस्तत्क्षेत्रं भावना परा ।
अन्यथा तस्य तत्त्वस्य का पूजा कश्च तृप्यति ।।१४८।।

व्याख्या—भगवान् भैरव यहाँ कहते हैं कि हे परमेश्वरी! ये जप, ध्यान, पूजा, तर्पण, होम, याग, क्षेत्र आदि के विषय में जो तुमने पूछा है वे सब द्वैतभाव में ही सम्भव है। अद्वैत की अवस्था में जब जान लिया गया कि सब कुछ वही है दूसरा कोई तत्त्व है ही नहीं तो इन सबका कोई औचित्य ही नहीं है। ये अज्ञानीजन जिनको बोध नहीं हुआ है वे ही इस प्रकार की क्रिया करते रहते हैं। समाधि अवस्था में जब साधक आनन्दमय स्थिति में चला जाता है तो वहीं जाकर वह तृप्ति का अनुभव करता है। इसी अवस्था को देवयजन कहा जाता है। इसी से हे पार्वती! इसी भावना से शिव और शक्ति की तन्मयता प्राप्त होती है। इसी से अज्ञानियों के सभी पापों का क्षय हो जाता है और इस संसाररूपी महाभय से त्राण पा सकता है। हे देवी! यह परमतत्त्व परमार्थ में एक ही है, अद्वय है। ऊपर जो विधि बतायी गयी है उसी पद्धति से उसे सम्पन्न करना चाहिये। अन्य कोई विधि नहीं है।

स्वतन्त्रानन्दचिन्मात्रसारः स्वात्मा हि सर्वतः ।
आवेशनं तत्स्वरूपे स्वात्मनः स्नानमीरितम् ।।१४९।।

व्याख्या—जल के स्नान से मात्र शरीर की शुद्धि होती है वह मन को शुद्ध नहीं कर

सकता। मन की शुद्धि के बिना जीव का शुद्धिकरण नहीं होता। जीव की शुद्धि तभी होती है जब इस जीव चेतना का उस परम चेतना में लीन कर दिया जाए। यही सर्वोत्तम स्नान है जिससे यह जीव चेतना पवित्र हो जाती है। अन्य किसी विधि से इसे पवित्र नहीं किया जा सकता। जिन धारणाओं का यहाँ वर्णन किया गया है उनमें से किसी भी एक धारणा के अभ्यास से उस अद्वय स्वरूप आत्मा का उस एक ही चेतन स्वरूप में समाविष्ट हो जाने को ही उत्तम स्नान माना गया है। यह स्वात्मा स्वतन्त्र आनन्दस्वरूप व चेतन मात्र है। इसी को प्राप्त करना ही परमगति है।

यैरेव पूज्यते द्रव्यैस्तर्प्यते वा परापरः ।
यश्चैव पूजकः सर्वः स एवैकः क्व पूजनम् ।।१५०।।

व्याख्या—जो उस परमतत्त्व को जान गया जिसे भैरव की अनुभूति हो गयी जो अद्वैत में प्रविष्ट हो गया जिसे सृष्टि में सर्वत्र एकत्त्व की अनुभूति हो गयी वह सभी को चेतन स्वरूप ही मान लेता है। उसकी सभी भेद दृष्टि ही समाप्त हो जाती है। वह शिव व शक्ति की अभिन्नता में प्रवेश कर गया। उसके लिए पूजा, पूजन सामग्री तथा पूजक में कोई भेद ही नहीं रह जाता फिर कोई किसकी पूजा करे तथा किस सामग्री से पूजा करे यह सब व्यर्थ हो जाता है क्योंकि सभी उस एक तत्त्व के विभिन्न रूप ही तो हैं ये सब क्रियाएँ उन अज्ञानियों के लिए है जो शिव व शक्ति को भिन्न मानते हैं जो जीव और शिव को भिन्न मानते हैं जो सृष्टि व सृष्टा में भेद करते हैं। जब साधक को अद्वैत का बोध हो जाता है तो वह उसकी कोई उपयोगिता नहीं समझता।

व्रजेत् प्राणो विशेज्जीव इच्छया कुटिलाकृतिः ।
दीर्घात्मा सा महादेवी परक्षेत्रं परापरा ।।१५१।।

व्याख्या—शरीर में प्राण और अपान की गति निरन्तर बनी रहती है। हृदय से बाहर की ओर जाने वाली श्वास को प्राण कहा जाता है तथा बाहर से भीतर आने वाला श्वास को अपान कहा जाता है। प्राण के निकल जाने पर मृत्यु होती है तथा अपान के आने से जीवन मिलता है इसलिए इस अपान को ही जीव कहा गया है जब अपना अपानवायु भीतर प्रवेश करती है तो 'ह' की ध्वनि होती है तथा श्वास छोड़ते समय 'स' की ध्वनि होती है इस प्रकार ह और स का उच्चारण निरन्तर होता रहता है जिसे 'हंस' गायत्री कहते हैं। अपान से ही बोध होता है कि शरीर में जीवात्मा विद्यमान है। अपान के प्रवेश न करने पर शरीर शव हो ताता है। जब तक शरीर जीवित है तब तक अपान और प्राण का प्रवाह निरन्तर चलता रहता है किन्तु यह कब तक चलता रहेगा तथा यह क्रम कब टूट जायेगा इसके विषय में कुछ भी नहीं कहा जा सकता।

जिस प्रकार हकार में ह की आकृति टेढ़ी मेढ़ी होती है उसी प्रकार यह जीव भी अपनी इच्छा से ही कुटिल (घुमावदार) आकृति धारण कर लेता है। यह वक्रता परमेश्वर की स्वतन्त्र इच्छाशक्ति के कारण होती है यह वक्रता प्राणों में आती है जीव में नहीं। यह जीव प्राणशक्ति के भीतर सूक्ष्मरूप में रहता है प्राण और अपान की समानता के कारण ही जीव को हंस कहा जाता है अर्थात हंस की भाँति उसमें नीर क्षीर का विवेक प्राप्त होता है।

हृदय रूपी आकाश में रहने वाली यह संवित् शक्ति ही इन सबको उत्पन्न करने वाली है। इसी को परादेवी कहा गया है। यही दीर्घात्मा तथा परापरा उसी का स्वरूप है यही श्रेष्ठ

तीर्थभूमि है। हंस मन्त्र को इसी कारण अजपा गायत्री कहा जाता है। जिसका निरन्तर जप चलता रहता है।

अस्यामनुचरंस्तिष्ठन् महानन्दमयेऽध्वरे ।
तया देव्या समाविष्टः परं भैरवमाप्नुयात् ।।१५२।।

व्याख्या—इस हृदयरूपी भूमि में जहाँ सकार और हकार का सम्मिलन होता है अर्थात् प्राण और अपान का मिलन होता है उससे जो आनन्द उत्पन्न होता है वह महानन्द के नाम से प्रसिद्ध है। इस महानन्द का अनुष्ठान करने से ही साधक को वह (शिव) मैं ही हूँ इस प्रकार का ज्ञान हो जाता है। इसी विचार में निमग्न रहने वाला साधक उस परभैरव के उत्कृष्ट स्वरूप को प्राप्त कर लेता है उसमें समाविष्ट हो जाता है जिससे जीव व शिव का भेद ही मिट जाता है दोनों एक रूप हो जाते हैं।

सकारेण बहिर्याति हकारेण विशेत् पुनः ।
हंस-हंसेत्यमु मन्त्रं जीवो जपति नित्यशः ।।१५३।।
षट्शतानि दिवारात्रौ सहस्राण्येकविंशतिः ।
जपो देव्याः समुद्दिष्टः प्राणस्यान्ते सुदुर्लभः ।।१५४।।

व्याख्या—यह प्राण सकार के साथ बाहर निकलता है तथा हकार के साथ यह अपान पुनः शरीर में प्रवेश करता है अर्थात् जब प्राण शरीर से बाहर निकलता है तो **स** की आवाज होती है और अपान जब भीतर प्रवेश करता है तो **ह** की आवाज होती है इस प्रकार प्राण और अपान की गति जब तक चलती रहती है अर्थात जब तक श्वास प्रश्वास चलता रहता है तब तक जीव निरन्तर हंस-हंस इस मन्त्र का उच्चारण करता रहता है। इस मन्त्र का चौबीस घंटे में २१,६०० बार जप पूरा हो जाता है। जब प्राण शरीर से बाहर निकल जाते हैं और अपान के पुनः शरीर में प्रवेश न करने पर यह जप बन्द हो जाता है। मृत्यु के समय भी यदि इस जप के साथ साधक की तन्मयता बनी रहे तो इसे अनेक जन्मों के अर्जित पुण्य कर्मों का फल ही कहना चाहिये अन्यथा सामान्यतया यह तन्मयता नहीं रह पाती।

इत्येतत् कथितं देवि परमामृतमुत्तमम् ।
एतच्च नैव कस्यापि प्रकाश्यं तु कदाचन ।।१५५।।
परशिष्ये खले क्रूरे चाभक्ते गुरुपादयोः ।

व्याख्या—तन्त्र की सारभूत सभी शिक्षाओं का समापन करते हुए भगवान् भैरव भैरवी द्वारा पूछे गये सभी प्रश्नों का उत्तर देने के बाद कहते हैं कि हे देवी! इस प्रकार मैंने तुमको इस उत्तम परम अमृतमय पद (मोक्ष) को प्राप्त कराने वाले शास्त्र का उपदेश दिया है। इस शास्त्र का उपदेश किसी अनधिकारी व्यक्ति को प्राण का संकट उपस्थित होने पर भी नहीं करना चाहिये। अन्य सम्प्रदाय में दीक्षित, कपटी ओर क्रूर व्यक्ति को तथा गुरु के चरणों में श्रद्धा न रखने वाले शिष्य को कभी भी इसका उपदेश नहीं करना चाहिये। अनधिकारी को उपदेश देने से वह इसके रहस्यों को न समझकर इसका दुरुपयोग ही करेगा जिससे उसके स्वयं का तथा समाज का अहित भी कर सकता है। उच्च ज्ञान सामान्य व्यक्ति को देने का इसी कारण निषेध किया जाता रहा है।

निर्विकल्पमतीनां तु वीराणामुन्नतात्मनाम् ।।१५६।।
भक्तानां गुरुवर्यस्य दातव्यं निर्विशङ्कया ।

व्याख्या—मनुष्य का मन कई प्रकार के संकल्प विकल्प में घूमता रहता है। उसके मन में किसी एक के प्रति दृढ़ आस्था नहीं होती। धर्म, सम्प्रदाय, साधना आदि के कई ग्रन्थों को पढ़ने के बाद भी वह किसी निश्चय पर नहीं पहुँच सकता कि कौन सा मार्ग ग्राह्य है व कौन सा अग्राह्य है? कौन सा साध्य है और कौन सा असाध्य है? ऐसे कई विकल्पों के रहते उसकी मति किसी भी एक मत या विधि में दृढ़ नहीं हो पाती। ऐसा व्यक्ति कुछ भी ग्रहण नहीं कर सकता किन्तु जिसकी बुद्धि निर्विकल्प हो चुकी है जिसका निश्चय दृढ़ हो चुका है तथा जिसकी किसी मुख्य विषय में आस्था जम चुकी है जिसको उसमें श्रद्धा है। जिसमें उसको कोई संदेह नहीं है जो शुद्ध विद्या को ग्रहण करने की पात्रता वाला है तथा जो गुरु की सेवा में श्रद्धापूर्वक लगा हो ऐसे शिष्यों के सामने ही ऐसे रहस्यमय ज्ञान को बिना शंका के प्रकाशित करना चाहिये। जो इस ज्ञान के प्रचार प्रसार में योगदान करने का इच्छुक हो उसे भी दिया जा सकता है इसके मर्म व मन्तव्य को समझने की योग्यता वाला ही इसका सद्पात्र है।

ग्रामं राज्यं पुरंदेशं पुत्रदारकुटुम्बकम् ।।१५७।।
सर्वमेतत् परित्यज्य ग्राह्यमेतन्मृगेक्षणे ।
किमेभिरस्थिरैर्देवि स्थिरं परमिदं धनम् ।।१५८।।
प्राणा अपि प्रदातव्या न देयं परमामृतम् ।

व्याख्या—भगवान् भैरव भैरवी पार्वती से कहते हैं कि हे मृगनयनी! इस ज्ञान को ग्रहण करने के लिये ग्राम, राज्य, नगर, देश, पुत्र, स्त्री, कुटुम्ब आदि सबको छोड़ना पड़े तो भी उन्हें छोड़कर इस रहस्यमय, अत्यन्त गुप्त, परम उत्कृष्ट ज्ञान को ग्रहण करना चाहिये क्योंकि हे देवी! ग्राम, राज्य आदि सभी तो अस्थिर हैं, ये मनुष्य के साथ सदा रहने वाले नहीं हैं। इन अस्थिर पदार्थों को रखकर क्या करेंगे? हमें तो इस स्थिर धन, अक्षय ज्ञान का ही संग्रह करना चाहिये जो सभी प्रकार की विपत्तियों को दूर करने वाला है सभी प्रकार के उपाय करके भी हमें इसी अक्षयनिधि का ही संग्रह करना चाहिये जो हमें परम सुख व अक्षय शान्ति प्रदान करने वाला है जो जीवन का सार तत्त्व है उसका त्याग कर असार को ग्रहण करने में कौन सी बुद्धिमानी है? इस अमृतमय ज्ञान को प्राप्त कर इसे अयोग्य व्यक्ति को कभी नहीं देना चाहिये। यह गुप्त ज्ञान है जो गुरु शिष्य परम्परानुसार किसी योग्य शिष्य को ही देना चाहिये जो इस परम्परा का उचित निर्वाह कर सके।

।। श्री भैरवी उवाच ।।

देवदेव महादेव परितृप्तास्मि शङ्कर ।।१५९।।
रुद्रयामलतन्त्रस्य सारमद्यावधारितम् ।
सर्वशक्तिप्रभेदानां हृदयं ज्ञातमद्य च ।।१६०।।
इत्युक्त्वाऽऽनन्दितादेवी कण्ठे लग्ना शिवस्य तु ।।१६१।।

व्याख्या—भगवान् शिव द्वारा उपदिष्ट ज्ञान को सुनकर भैरवी शक्ति पार्वती अत्यन्त संतुष्ट होकर भगवान् शिव के प्रति आभार व्यक्त करते हुए कहने लगी कि हे देवों के देव, देवताओं के स्वामी महादेव भगवान शंकर सबका कल्याण करने वाले! मैं आपके इस अत्यन्त गुप्त रहस्यमय ज्ञान को सुनकर परम सन्तुष्ट हूँ। **आज मैंने रुद्रयामल तन्त्र के गूढ़ रहस्य को समझ लिया है।** साथ ही मैंने शक्ति तत्त्व के पर, अपर तथा परापर आदि भेदों के गुप्त रहस्य को भी जान लिया है। इतना कहने पर अपने सभी प्रकार के सन्देहों

के निवृत्त हो जाने पर परम आनन्द में लीन, भाव विभोर होकर भगवती पार्वती शिव में लीन हो गई शिव के साथ मिलकर एकाकार हो गयी। शिव व शक्ति की जो भेद की प्रतीति थी वह समाप्त होकर अद्वय रूप में प्रतिष्ठित हो गयी।

।। इति विज्ञानभैरव समाप्त ।।

तान्त्रिक शब्दावली के भावार्थ

गुरु : सिद्धि का मूल है देवता, देवता का मूल है मन्त्र, मन्त्र का मूल है दीक्षा और दीक्षा का मूल है गुरु।

शिष्य : शुद्धचित्त, इन्द्रियजयी और पुरुषार्थी शिष्य ही तान्त्रिक साधना का योग्य अधिकारी होता है। तन्त्र साधना में गुरु-शिष्य सम्बन्ध का अपार महत्त्व माना जाता है।

मन्त्र : प्रत्येक मन्त्र में प्रणव, बीज और देवता—ये तीन तत्त्व होते हैं। दीक्षा-मन्त्र अत्यन्त प्रभावी होते हैं। सौर मन्त्र पुल्लिङ्ग कोटि के होते है, सौम्य मन्त्र स्त्रीलिङ्ग कोटि के और पौराणिक मन्त्र नपुंसक लिङ्गी माने जाते हैं।

विद्या : स्त्री मन्त्रों का ही अपर नाम है विद्या।

माला : मन्त्र का एक भेद। नित्या तन्त्र में एकाक्षरी मन्त्र को पिण्ड, द्वयक्षरी मन्त्र को कर्तरी, त्र्यक्षरी से नवाक्षरी पर्यन्त बीज और बीस से अधिक अक्षरों वाले मन्त्र को माला-मन्त्र कहते हैं।

बीज : प्रत्येक देवता का अपना एक बीज होता है। जैसे काली का क्रीं, माया का ह्रीं, अग्नि का रं और वाक् का ऐं आदि। बीज के अतिरिक्त देवता का मूलमन्त्र होता है।

मन्त्रचैतन्य : मन्त्र, मन्त्रार्थ और मन्त्रदेवता इन तीनों का एकीकरण।

देवता : परमेश्वरी की विशिष्ट शक्ति।

भावत्रय : पशुभाव, वीरभाव और दिव्यभाव अर्थात् तान्त्रिक साधक की तीन अधम, मध्यम और उत्तम अवस्थाएँ। आत्यन्तिक संसारासक्ति को अधम पशुभाव और सत्कर्म प्रवृत्ति को उत्तम पशुभाव कहते हैं।

आचारसप्तक : वेदाचार, वैष्णवाचार, शैवाचार, दक्षिणाचार, वामाचार, सिद्धान्ताचार और कौलाचार। उक्त अनुक्रम से उनकी श्रेष्ठता मानी गई है। कौलाचार सर्वश्रेष्ठ माना गया है। (कौलात् परतरं न हि)। शैवाचार में पशुहिंसा, दक्षिणाचार में विजया (भङ्ग) सेवन, वामाचार में रजःस्वला रज और कुलश्री का पूजन और कौलाचार में 'भूतपिशाचवत्' अनियत आचार विहित माना गया है।

दीक्षा : तन्त्रसाधना में अधिकारी गुरु द्वारा अनुकूल शिष्य को मन्त्रदीक्षा आवश्यक मानी गई है। समय दीक्षा और निर्वाण दीक्षा नामक दो प्रकार की दीक्षा सामान्य विशेष-भेद से होती है। निर्वाण दीक्षा के दो भेद हैं—१. सबीज, २. निर्बीज। सबीज दीक्षा का अपरनाम है 'पुत्रक दीक्षा' अथवा 'आचार्य दीक्षा'। आगम ग्रन्थों में कला, एक-तत्व, त्रितत्त्व, पञ्चतत्त्व, नवतत्व, छत्तीस तत्त्व, पद, मन्त्र, वर्ण, भुवन और केवल भुवन नामक ११ प्रकार की दीक्षाएँ बताई गई हैं।

अभिषेक : दीक्षा प्राप्त शिष्य पर गुरु द्वारा जल सिंचन। इस अभिषेक के शक्तिपूर्ण, क्रमदीक्षा, साम्राज्य, महासाम्राज्य, योगदीक्षा, पूर्णदीक्षा और महापूर्णदीक्षा नामक आठ प्रकार माने गए हैं।

साधना : तान्त्रिक साधना करते समय उषाकाल में गुरु और देवता का ध्यान, मानसपूजा, मन्त्रजप, स्नानविधि, नित्यार्चन, विजया (भङ्ग) ग्रहण, भूतशुद्धि, न्यास, पात्रस्थापना, यन्त्रराजस्थापना, श्रीपात्रस्थापना, इष्टदैवतपूजा, प्राणप्रतिष्ठा —इन विधियों का पालन यथाक्रम होता है।

कुल : श्रीकुल और कालीकुल नामक साधकों के दो कुल होते हैं। श्रीकुल में सुन्दरी, भैरवी, बाला, बगला, कमला, धूमावती, मातङ्गी और स्वप्नावती—इन आठ देवियों का अन्तर्भाव होता है और कालीकुल में काली, तारा, रक्तकाली, भुवनेश्वरी, महिषमर्दिनी, त्रिपुरा, दुर्गा और प्रत्यङ्गिरा—इन आठ देवियों का अन्तर्भाव होता है।

षोडशोपचार पूजा : तान्त्रिक साधक देवता की प्राणप्रतिष्ठा होने पर जिन उपचारों से पूजा करते हैं, वे हैं—आसन, स्वागत, पाद्य, अर्घ्य, आचमन, पुनराचमन, मधुपर्क, स्नान, वसन, आभरण, गन्ध, पुष्प, धूप, दीप, नैवेद्य और वन्दन।

पञ्चमकार : मद्य, मांस, मत्स्य, मुद्रा और मैथुन। इन्हीं को पञ्चतत्त्व भी कहते हैं। वामाचार में इन पञ्चमकारों का प्रयोग आवश्यक माना गया है। दक्षिणाचार (समयाचार) में इनका प्रयोग नहीं होता। इनका लौकिक अर्थ में उपयोग तन्त्र में नहीं है इनका तान्त्रिक अर्थ अलग है।

चक्रपूजा : वीरभाव के साधक स्त्री-पुरुष सामूहिक रीत्या एक मण्डल में बैठकर विधिपूर्वक तान्त्रिक सुरा (मद्य नहीं) पान करते हैं, तब वह चक्रपूजा कहलाती है। राजचक्र, महाचक्र, देवचक्र, वीरचक्र, भैरवचक्र और ब्रह्मचक्र नामक छः प्रकार के चक्र होते हैं।

बिन्दु : शिवांश और शक्त्यंश की सृष्टि-निर्मिति के पूर्व साम्यावस्था। सृष्टि का आरम्भ होते समय मूल बिन्दु-इच्छा, ज्ञान और क्रिया स्वरूप में विभक्त होते हैं। मूल बिन्दु को परा वाक् और अन्तिम तीन बिन्दुओं को पश्यन्ती मध्यमा और वैखरी कहते हैं।

ब्रह्मपुर : मानव शरीर।

तान्त्रिक दीक्षा के चार प्रकार : क्रियावती, वर्णमयी, कलावती तथा वेधमयी।

तिथियों के पाँच विभाग : नन्दा (१,६,११) भद्रा (२,७,१२) विजया (३,८,१३) रिक्ता (४,९,१४) तथा पूर्णा (५,१० पूर्णिमा),

मुद्रा : महाभद्रा, नभोमुद्रा, उड्डियान बन्ध, जालन्धर बन्ध, मूलबन्ध, महाबन्ध, महावेध, खेचरी, विपरीतकरणी, योनि, वज्रोलि, शक्तिचालिनी, तडागी, माण्डूकी, शाम्भवी, पार्थिवी-धारणा, आम्भसी-धारणा, आग्नेयी-धारणा, वायवी-धारणा, आकाशी-धारणा, आश्विनी, पाशिनी, काकी, मातङ्गिनी और भुजङ्गिनी। (कुल प्रकार २५) सप्त कुण्डलिनी शक्ति को जाग्रत करने के हेतु मुद्राओं की साधना आवश्यक मानी गयी है। घेरण्डसंहिता के अनुसार शाम्भवी खेचरी भ्रामरी और

योनिमुद्रा की तथा स्थूलध्यान की साधना से समाधि सुख का लाभ साधक को होता है। शाम्भवीमुद्रा में ध्यानयोग समाधि की साधना से दिव्य रूपदर्शन का आनन्द मिलता है।

नाड़ी : शरीर में विद्यमान शक्ति स्रोत। मनुष्य देह में साढ़े तीन करोड़ नाड़ियाँ हैं। उनमें १४ प्रमुख हैं जिनमें इडा, पिङ्गला और सुषुम्णा प्रमुख हैं। तीनों में रक्तवर्ण सुषुम्ना सर्वश्रेष्ठ है। उसके अन्तर्गत चित्रा ब्रह्मनाड़ी मानी जाती है।

षट्चक्र : १. मूलाधार, २. स्वाधिष्ठान, ३. मणिपूर, ४. अनाहत, ५. विशुद्ध और ६. आज्ञा। सहस्रारचक्र शरीर के ऊर्ध्वतम स्थान में होता है (योगशास्त्र में भी इन चक्रों का महत्त्व प्रतिपादन किया गया है।)

ग्रन्थी : मणिपूर, अनाहत और आज्ञा चक्रों के अपर नाम यथाक्रम-ब्रह्मग्रन्थी, विष्णुग्रन्थी और रुद्रग्रन्थी है। वेदान्तशास्त्र में इन्हीं को पुत्रैषणा, वित्तैषणा और लोकैषणा कहते हैं।

सामरस्य : जीव और शिव की निजी शक्ति से मिलन की उच्चतम साधनावस्था 'सामरस्य' कही गई है। इस अवस्था में जीव शिव के सामान और जीव की भक्ति शक्ति के समान हो जाती है और तान्त्रिक साधना का यही प्राप्तव्य है।

रुद्रयामल तन्त्र का गूढ़ रहस्य

विज्ञान भैरव तन्त्र

विज्ञान— सांसारिकता-भौतिकता।

भैरव— अत्यन्त उग्रता से विनाश करने वाला शिवतत्त्व।

तन्त्र— संसार के अज्ञानी जीवों का लौकिक एवं भौतिक मायाजाल विनष्ट करके आत्मज्ञान, स्वयंबोध एवं परमतत्त्व की सहज अनुभूति की साधना का नाम है— **विज्ञान भैरव।**

स्वयंबोध एक प्रकार से सहजयोग का शक्तिपात है। तन्त्र की भाषा में साधक पर ईश्वर या गुरुकृपा को शक्तिपात कहा गया है।

विज्ञान भैरव में इसी की 112 विधियों का वर्णन किया गया है।

—नन्दलाल दशोरा

रणधीर प्रकाशन हरिद्वार